वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००

वि
वे
क
ज्यो
ति

स्वामी विवेकानन्द का
१५०वाँ जन्मवर्ष

वर्ष ५१ अंक १
जनवरी २०१३

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जनवरी २०१३

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५१
अंक १

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर – २३,०००

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

पुरखों की थाती

को धर्मो भूतदया किं सौख्यमारोगिता जगति ।
कः स्नेहः सद्भावः किं पाण्डित्यं परिच्छेदः॥२३५॥

– धर्म क्या है? – सब जीवों पर दया करना। सुख क्या है? – सदा निरोगी जीवन। प्रेम क्या है? – अच्छी भावना; और पाण्डित्य क्या है? – उचित निर्णय।

को न याति वशं लोके मुखे पिण्डेन पूरितः ।
मृदंगोऽपि मुख-लेपेन करोति मधुर-ध्वनिम् ॥२३६॥

– अच्छी तरह खिलाने-पिलाने से भला कौन वश में नहीं आ जाता! मुख पर आटे का लेप करने पर मृदंग तक मधुर आवाज निकालता है।

कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम् ।
को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥३७॥

– समर्थ व्यक्ति के लिए कौन-सी वस्तु भारी है? उद्योगी के लिए कौन-सा स्थान दूर है? विद्वान् के लिए कौन-सा स्थान विदेश है? और प्रिय वाणी बोलनेवाले का कौन शत्रु है?

कौमारे आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतान् इह ।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदपि अध्रुवम्-अर्थदम् ॥२३८॥

– इस संसार में मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है और मृत्यु कभी भी आ सकती है, अत: बुद्धिमान को चाहिए कि तरुणाई से ही भगवत्-प्राप्ति के साधन में लग जाय।

कौर्मं सङ्कोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत् ।
प्राप्तकाले तु नीतिज्ञ उत्तिष्ठेत्क्रूर-सर्पवत् ॥२३९॥

– दुर्दिन में कछुए की भाँति अपने अंगों को सिकोड़कर सारे प्रहारों को सहन कर लेना चाहिए। और अवसर आने पर क्रूर सर्प की भाँति फुफकारते हुए उठ खड़े होना चाहिए।

कृतकृत्यस्य भृत्यस्य कृतं नैव प्रणाशयेत् ।
फलेन मनसा वाचा दृष्ट्या चैनं प्रहर्षयेत् ॥२४०॥

– भलीभाँति कार्य को पूरा करनेवाले सेवक को भूले नहीं। उसे कुछ देकर, मन, वचन तथा कृपादृष्टि से प्रसन्न करे।

कृतस्य करणं नास्ति मृतस्य मरणं तथा ।
गतस्य शोचना नास्ति ह्येतद्वेदविदां मतम् ॥२४१॥

– ज्ञानियों का मत है कि जैसे सम्पन्न हो चुके कार्य में कुछ करना बाकी नहीं रहता, मरे हुए का फिर मरना नहीं होता, वैसे ही बीते हुए के लिये शोक करना भी उचित नहीं है।

कृतशतमसत्सु नष्टं सुभाषितशतं च नष्टमबुधेषु ।
वचनशतमवचनकरे बुद्धिशतमचेतने नष्टम् ॥२४२

– दुष्ट मनुष्य के प्रति किये हुए सैकड़ों उपकार व्यर्थ हैं, मूर्ख मनुष्य के प्रति कहे गए सैकड़ों सुभाषित व्यर्थ हैं, बात न माननेवालों के प्रति कहे गए सैकड़ों वाक्य व्यर्थ हैं और अज्ञानी व्यक्ति के सामने सैकड़ों युक्तियाँ व्यर्थ हैं।

कः कस्य हेतुर्दुःखस्य कस्य हेतुः सुखस्य वा ।
स्वपूर्वार्जित-कर्मैव कारणं सुख-दुःखयोः ॥२४३॥

– इस संसार में न तो कोई किसी के दुख का कारण है और न कोई किसी के सुख का कारण है; पूर्व तथा इस जन्म में अर्जित पाप-पुण्य रूपी कर्मफल ही सुख-दुखों के कारण हैं।

क्रोध एव महान् शत्रुः तृष्णा वैतरणी नदी ।
सन्तोषो नन्दनवनं शान्तिरेव हि कामधुक् ॥२४४॥

– संसार में क्रोध ही महान् शत्रु है, कामनाएँ ही वैतरणी नदी है, सन्तोष ही आनन्द-वन है और शान्ति ही कामधेनु है।

कृते च प्रति कर्तव्यम् एष धर्मः सनातनः ॥२४५॥

– अपना उपकार करनेवाले का उपकार करना – यही सनातन धर्म है। ❖ (क्रमशः) ❖

स्वामीजी का सन्देश

– १ –

(मारूबिहाग–कहरवा)

वीर, मत होना कभी हताश ।
लग जाओ कर्तव्य-कर्म में, ले भविष्य की आस ।।

ऋषियों की धरती पर फूलो, निज परम्परा को मत भूलो,
सारे जग में फैला डालो, निज चारित्र्य-सुवास ।।

धर्मभाव में भेद नहीं है, सबमें ब्रह्म सनातन ही है,
वेदों की शिक्षा अपनाओ, करो स्वार्थ का नाश ।।

अन्धकार है घोर तमस का, प्रकट करो बल-बुद्धि मनस का,
बन जाओ तुम देव स्वयं ही, कर आप्राण प्रयास ।।

भारतीय अस्मिता पुरातन, धर्म हमारा नित्य सनातन,
वैदिक प्रज्ञा के प्रसार से, चहुँ दिशि करो प्रकाश ।।

– २ –

(केदार या भैरवी–कहरवा)

स्वामीजी सन्देश दे गए, भले बनो और भला करो,
कर्तव्यों को पूरा करते, श्रेयमार्ग पर चला करो ।।

जानो जीवन भंगुर अपना, छोड़ो सुख-सम्पद का सपना,
आए दुर्लभ नर-तन लेकर, महिमा निज उज्ज्वला करो ।।

राग-द्वेष मत रखना चित में, लगे रहो नित सबके हित में,
मोहमयी दुस्तर माया की, उच्छेदन-श्रृंखला करो ।।

अपना चिर स्वरूप पहचानो, दीन-दुखी को ईश्वर जानो,
प्रीति और सेवा के शीतल, निर्झर बनकर ढला करो ।।

आशा पूरित यह जग सारा, है 'विदेह' सौभाग्य तुम्हारा,
सबको ज्ञानालोक दिखाने, निज मशाल हो जला करो ।।

– *विदेह*

पश्चिमी देशों में धर्म-प्रचार

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

पाश्चात्य देशों के कई बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने मुझसे स्वयं वेदान्त के सिद्धान्त की युक्तिपूर्णता की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। इनमें से उनके एक वैज्ञानिक महाशय के साथ मेरा विशेष परिचय है। वे अपने वैज्ञानिक अनुसन्धानों में इतने व्यस्त रहते हैं कि उन्हें स्थिरता के साथ खाने-पीने या कहीं घूमने-फिरने की भी फुरसत नहीं रहती, परन्तु जब कभी मैं वेदान्त सम्बन्धी विषयों पर व्याख्यान देता, तब वे घण्टों मुग्ध रहकर सुना करते थे। क्योंकि उनके कथनानुसार "वेदान्त की सब बातें अत्यन्त विज्ञानसम्मत हैं, वर्तमान वैज्ञानिक युग की आकांक्षाओं को वे बड़ी सुन्दरता के साथ पूर्ण करती हैं और आधुनिक विज्ञान बड़े-बड़े अनुसन्धानों के बाद जिन सिद्धान्तों पर पहुँचता है, उनसे इनका सामंजस्य है।"[७५]

जब मैं अमेरिका में था, तब मुझमें अद्भुत शक्तियों का स्फुरण हुआ था। क्षण मात्र में मैं मनुष्य की आँखों से उसके मन के सब भावों को जान जाता था। किसी के मन में कोई कैसी ही बात क्यों न हो, वह सब मेरे सामने हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाती थीं। कभी-कभी किसी को बता भी दिया करता था। जिन-जिन को मैं बता देता था, उनमें से अनेक मेरे चेले बन जाते थे और यदि कोई किसी बुरे अभिप्राय से मुझसे मिलने आता, तो वह इस शक्ति का परिचय पाकर फिर कभी मेरे पास नहीं आता था।

जब मैंने शिकागो आदि शहरों में व्याख्यान देना आरम्भ किया, तब सप्ताह में बारह-बारह, चौदह-चौदह और कभी इससे भी अधिक व्याख्यान देने पड़ते थे। शारीरिक और मानसिक परिश्रम बहुत अधिक होने के कारण मैं बहुत थक जाता था और लगता था मानो व्याख्यान के सभी विषय समाप्त होने वाले हैं। "अब मैं क्या करूँगा, कल फिर नयी बातें क्या कहूँगा" – बस ऐसी ही चिन्ता मन में आया करती थी। ऐसा अनुमान होता था कि कोई नया भाव नहीं उठेगा। एक दिन व्याख्यान देने के बाद लेटे हुए चिन्ता कर रहा था, "बस, अब तो सब कह दिया, अब क्या उपाय करूँ?" ऐसी चिन्ता करते-करते कुछ तन्द्रा-सी आ गयी। उसी अवस्था में सुनने में आया – मानो कोई मेरे पास खड़ा होकर व्याख्यान दे रहा है और उस भाषण में कितने ही नये भाव तथा नयी बातें हैं – मानो वे सब इस जन्म में कभी मेरे सुनने में या ध्यान में आयीं ही नहीं थीं। सोकर उठते ही उन सब बातों का स्मरण करके भाषण में वे ही बातें कहीं। ऐसा कितनी ही बार हुआ, कहाँ तक गिनाऊँ? सोते-सोते ऐसे व्याख्यान कितने ही बार सुने! कभी-कभी तो व्याख्यान इतने जोर से दिये जाते थे कि पास के कमरों में औरों को भी सुनायी पड़ते थे। दूसरे दिन वे लोग मुझसे पूछते, "स्वामीजी, कल रात में आप किसके साथ इतनी जोर से बातें कर रहे थे?" मैं उनके इस प्रश्न को किसी प्रकार टाल दिया करता था। वह बड़ी ही अद्भुत घटना थी।[७६]

जब लोग मेरा बहुत मान करने लगे, तब पादरी लोग मेरे बहुत पीछे पड़े। समाचार-पत्रों में मेरे नाम पर कितनी ही निन्दात्मक बातें लिखने लगे। कितने ही लोग मुझसे उनका प्रतिवाद करने को कहते, परन्तु मैं उन पर कुछ भी ध्यान नहीं देता था। मेरा यह दृढ़ विश्वास था कि कपट से जगत् में कोई महान् कार्य नहीं होता, इसीलिए उन अश्लील निन्दाओं पर ध्यान न देकर मैं धीरे-धीरे अपना कार्य करता जा रहा था। अनेक बार यह भी देखने में आता था कि जिसने मेरी व्यर्थ निन्दा की, वही फिर अनुतप्त होकर मेरी शरण में आता था और स्वयं ही समाचार-पत्रों में प्रतिवाद करते हुए मुझसे क्षमा माँगता था। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि किसी घर में मेरा निमंत्रण है, यह सुनकर वहाँ कोई जा पहुँचा और घरवालों से मेरे बारे में झूठी निन्दा कर आया और घरवाले भी यह सुनकर द्वार बन्द करके कहीं चल दिये। निमंत्रण के अनुसार जब मैं वहाँ गया, तो देखा, सब सुनसान है। वहाँ कोई भी नहीं है। कुछ दिनों बाद वे ही लोग वास्तविकता को जानकर बड़े दुखी होकर मेरा शिष्य बनने आये। ... वस्तुत: इस संसार में सब

दुनियादारी है। जो यथार्थ साहसी और ज्ञानी है, वह क्या ऐसी बातों से घबराता है? 'दुनिया चाहे जो भी कहे, मैं उसकी परवाह किये बिना अपना कर्तव्य पालन करता चला जाऊँगा' – यही वीरों की बात है। यदि 'अमुक क्या कहता है, क्या लिखता है' – ऐसी ही बातों पर रात-दिन ध्यान रहे तो जगत् में कोई महान् कार्य हो ही नहीं सकता।... लोग तुम्हारी स्तुति करें या निन्दा, लक्ष्मी तुम्हारे ऊपर कृपालु हो या न हो, तुम्हारा देहान्त आज हो या एक सौ साल बाद, तुम न्यायपथ से कभी विचलित मत होना –

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा।
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।।[७७]

मैं सत्य के लिए हूँ। सत्य मिथ्या के साथ कभी मित्रता नहीं कर सकता। चाहे सारी दुनिया मेरे विरुद्ध हो जाय, अन्त में सत्य ही विजयी होगा।[७८]

मिशनरियों तथा अन्य लोगों का मेरे खिलाफ कुचक्र इस देश (अमेरिका) में सफल न हो सका। ईश्वरेच्छा से यहाँ के लोग मुझसे स्नेह करते हैं, ये किसी की बातों में आनेवाले नहीं हैं। ये लोग मेरे विचारों का ... आदर करते हैं।[७९]

जब मैं अमेरिका में था, तब कई बार लोगों ने मुझसे शिकायत की कि मैं केवल अद्वैतवाद का ही प्रचार किया करता हूँ, द्वैतवाद पर विशेष जोर नहीं देता। द्वैतवाद के प्रेम, भक्ति और उपासना में कैसा अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है, यह मैं जानता हूँ। उसकी अपूर्व महिमा को मैं भलीभाँति समझता हूँ। परन्तु भाइयो ! अभी हमारे पास भावविभोर होकर आँखों से प्रेमाश्रु बरसाने का समय नहीं है। हमने बहुत आँसू बहाये हैं। यह हमारे लिये कोमल भाव धारण करने का समय नहीं है। कोमलता की साधना करते-करते हम लोग रूई के ढेर की तरह कोमल और मृतप्राय हो गये हैं। हमारे देश के लिए इस समय आवश्यकता है, लोहे की तरह ठोस मांसपेशियों और मजबूत स्नायुवाले शरीरों की; आवश्यकता है इस तरह के दृढ़ इच्छा-शक्तिसम्पन्न होने की कि कोई उसका प्रतिरोध करने में समर्थ न हो; आवश्यकता है ऐसी अदम्य इच्छा-शक्ति की, जो ब्रह्माण्ड के सारे रहस्यों को भेदने में समर्थ हो। यदि यह कार्य करने के लिए अथाह समुद्र के गर्भ में भी जाना पड़े, सदा सब तरह से मौत का सामना भी करना पड़े, तो हमें यह करना ही पड़ेगा। यही हमारे लिए परम आवश्यक है और इसका आरम्भ, स्थापना और दृढ़ीकरण अद्वैतवाद अर्थात् सर्वात्म-भाव के महान् आदर्श को समझने तथा उसे जीवन में रूपायित करने पर ही सम्भव है। ... वेदान्त के अद्वैतवाद के भावों का प्रचार करने की आवश्यकता है, ताकि लोगों के हृदय जाग जायँ और वे अपनी आत्मा की महत्ता को समझ सकें। इसीलिए मैं अद्वैतवाद का प्रचार करता हूँ और इसका प्रचार किसी साम्प्रदायिक भाव से प्रेरित होकर नहीं करता, बल्कि मैं सार्वभौम, युक्तिपूर्ण और अकाट्य सिद्धान्तों के आधार पर इसका प्रचार करता हूँ।[८०]

बचपन में मैं सोचता था कि कट्टरता से कार्य में बड़ी प्रेरणा मिलती है, पर ज्यों-ज्यों मैं बड़ा होता जा रहा हूँ, मुझे अनुभव होता है कि यह सही नहीं है।... मेरा अनुभव यह है कि सभी कट्टरतापूर्ण सुधारों से दूर रहना ही बुद्धिमानी है।[८१]

यदि मनुष्य को सभी कुछ मानने और करने पर बाध्य किया जाय, तो उसे पागल हो जाना पड़ेगा। एक बार किसी स्त्री ने मुझे एक पुस्तक भेजी और लिखा कि मुझे उसमें लिखी हुई सभी बातों पर विश्वास करना चाहिए। उसमें लिखा था कि आत्मा नामक कोई चीज नहीं है, पर स्वर्ग में देवी-देवता हैं और हममें से प्रत्येक के सिर में से ज्योति की एक किरण निकलकर स्वर्ग तक पहुँचती है। पता नहीं उस लेखिका को ये बातें कहाँ से ज्ञात हुईं। उस स्त्री की धारणा थी कि उसे दिव्य प्रेरणा मिली है, और चाहती थी कि मैं भी इस पर विश्वास करूँ; और चूँकि मैंने ऐसा करने से इन्कार कर दिया, उसने कहा, "तुम निश्चय ही बड़े निकृष्ट व्यक्ति हो, तुम्हारे लिए कोई आशा नहीं !" यही दुराग्रह है।[८२]

मैं परलोक-विद्या में विश्वास नहीं करता। यदि कोई चीज सच नहीं है, तो नहीं है। अद्भुत या विचित्र चीजें भी प्राकृतिक घटनाएँ हैं। मैं उन्हें विज्ञान की वस्तु मानता हूँ।तब वे मेरे लिए गुप्त-विद्यावाली या प्रेतात्म-विद्यावाली नहीं होतीं। मैं ऐसी गुप्त-विद्यावाली संस्थाओं में विश्वास नहीं करता। वे कुछ भी अच्छा नहीं करतीं, न ही वे कभी कुछ अच्छा कर सकती हैं।[८३]

न्यूयार्क, २७ मार्च १८९५ : ठगी और धोखाधड़ी के लिए यह (अमेरिका) एक अच्छा देश है, जहाँ के ९९.९ प्रतिशत लोगों की नीयत, दूसरों से अनुचित लाभ उठाने की रहती है। आँखें मूँदो कि सब गायब !... यहाँ के लोगों ने मेरे साथ ऐसा भला व्यवहार किया है कि अब मैं अगला कदम उठाने के पूर्व घण्टों अपने चारों ओर देखता रहता हूँ। ...

श्रीमती बुल को (श्रीमती एडम्स के) पाठों से काफी लाभ मिला है। मैंने भी कुछ पाठ लिये थे, पर कोई फायदा नहीं ! दिन-पर-दिन सामने बढ़नेवाला बोझ मुझे आगे झुकने नहीं देता – जैसा कि श्रीमती एडम्स चाहती हैं। चलते समय आगे झुकने की चेष्टा करते ही – केन्द्र की गुरुता पेट की सतह पर चली जाती है। इसलिए – मैं सामने की ओर तनकर ही आगे बढ़ता हूँ। ... मेरी कक्षाओं में औरतें ही औरतें हैं। ... जिन्दगी उसी पुरानी रफ्तार से चल रही है। कभी-कभी मैं अनन्त भाषणों और बकबक से ऊब जाता हूँ। लगातार कई दिनों तक मौन रहना चाहता हूँ।[८४]

न्यूयार्क, ११ अप्रैल १८९५ : कुछ दिन ग्राम्य परिवेश में बिताने के लिए कल मैं श्री लेगेट के यहाँ जा रहा हूँ। आशा है विशुद्ध वायु के सेवन से मुझे लाभ ही होगा।

अभी मैं इस मकान को छोड़ने का संकल्प त्याग चुका हूँ, क्योंकि इससे खर्च बढ़ जायगा। साथ ही अभी मकान बदलना ठीक भी नहीं है; धीरे-धीरे मैं इसको कार्यान्वित करूँगा। ...

(कुमारी हैमलिन) 'उचित' व्यक्तियों के साथ मेरा परिचय करा देना चाहती हैं, किन्तु मुझे भय है कि यह घटना कहीं उसी की पुनरावृत्ति न हो, जब एक बार मुझे सिखाया गया था कि 'सँभलकर रहो, हर किसी से न मिलो'। मेरे समग्र जीवन के अनुभव से मैं तो यही समझ पाया हूँ कि प्रभु जिनको मेरे पास भेजते हैं, वे ही 'उचित' व्यक्ति हैं। वस्तुत: वे ही सहायता कर सकते हैं और सहायता उन्हीं से मिलेगी। बाकी लोगों के बारे में मेरा यह कहना है कि प्रभु उन लोगों का तथा उनके साथियों का भला करें और उनसे मेरी रक्षा करें।

मेरे सभी मित्रों की यह धारणा थी कि इस प्रकार अकेले बस्ती में रहने से कुछ भी लाभ न होगा; और न कोई भद्र महिला कभी वहाँ उपस्थित ही होंगी। खासकर कुमारी हैमलिन ने तो सोचा था कि वह स्वयं या उसके मतानुसार जो 'उचित' व्यक्ति हैं, ऐसे लोग एक गरीब की कुटिया में किसी एकान्तवासी व्यक्ति के उपदेश सुनने के लिए वहाँ उपस्थित होंगे, यह कदापि सम्भव नहीं है। किन्तु वास्तव में जिनको 'उचित' व्यक्ति कहा जा सकता है, ऐसे ही लोग दिन-रात वहाँ आने लगे और इसके अलावा उक्त कुमारी साहबा भी स्वयं उपस्थित होने लगीं। हे प्रभु, तुझ पर तथा तेरी दया पर विश्वास रखना मानव के लिए कितना कठिन है !!! शिव ! शिव ! माँ, तुमसे मैं यह पूछना चाहता हूँ कि 'उचित' व्यक्ति कहाँ है और 'अनुचित' यानी असत् व्यक्ति ही कहाँ है? सबमें तो 'वही' विद्यमान है। हिंसापरायण व्याघ्र में भी 'वही' है, मृगशावक में भी 'वही' है, पापी तथा पुण्यात्मा में भी 'वही' है – सब कुछ 'वही' तो है !! देह, मन तथा आत्मा के सहित मैंने 'उसमें' शरण ली है। जीवन भर अपनी गोद में आश्रय देकर क्या 'वह' अब मुझे त्याग देगा? प्रभु की कृपादृष्टि के बिना समुद्र में जल की एक बूँद भी नहीं रह सकती, घने जंगल में एक टहनी भी नहीं मिल सकती, कुबेर के भण्डार में एक अन्न-कण मिलना भी सम्भव नहीं है; और यदि उसकी इच्छा हो, तो मरुस्थल में भी स्वच्छ-सलिला नदी प्रवाहित हो सकती है एवं भिक्षुक को भी महान् ऐश्वर्य मिल जाता है। एक छोटी-सी चिड़िया उड़कर कहाँ गिरती है – यह भी 'उससे' छिपा नहीं है। माँ, क्या यह सब कहने मात्र के लिए ही है अथवा अक्षरश: सत्य घटना है?

इन 'उचित' व्यक्तियों के साथ परिचय आदि की बातें रहने दो। हे मेरे शिव, मेरे लिए तुम्हीं 'सत्' और 'असत्' हो ! प्रभो, बाल्यावस्था से ही मैंने तुम्हारी शरण ली है। चाहे मैं विषुवतरेखीय उष्ण देश में जाऊँ अथवा तुषारमण्डित ध्रुव प्रदेश में रहूँ, चाहे पर्वतशिखर पर रहूँ या अतलस्पर्शी समुद्र में, सर्वत्र ही तू मेरे साथ रहेगा। तू ही मेरी गति है, मेरा नियन्ता है, आश्रय है; तू ही मेरा सखा, गुरु, ईश्वर तथा यथार्थ स्वरूप है। तू मुझे कभी भी नहीं त्यागेगा – कभी नहीं; यह मैं निश्चित रूप से जानता हूँ। हे मेरे प्रभु, कभी-कभी अकेला प्रबल बाधा-विघ्नों के साथ संग्राम करता हुआ मैं अपने को दुर्बल अनुभव करने लगता हूँ और उसके फलस्वरूप मनुष्यों से सहायता लाभ करने के लिए व्यग्र हो उठता हूँ। इन सारी दुर्बलताओं से मुझे सदा के लिए मुक्त कर, ताकि मुझे कभी तेरे सिवा अन्य किसी से सहायता के लिए प्रार्थना न करनी पड़े। यदि कोई व्यक्ति किसी भले आदमी पर विश्वास रखे, तो वह कभी भी उसे त्यागता नहीं या उसके साथ विश्वासघात नहीं करता। प्रभो, तू तो सब प्रकार की भलाई का स्रष्टा है – क्या तू मुझे त्याग देगा? तू तो यह जानता ही है कि मैं जीवन भर तेरा – एकमात्र तेरा ही दास हूँ। क्या तू मुझे त्याग देगा – ताकि दूसरे लोग मुझे ठगने लगें या मैं दुष्टों का शिकार बन जाऊँ?

माँ, मैं यह निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि 'वह' मुझे कभी नहीं त्यागेगा।[८५]

न्यूयार्क, जून १८९५ : अभी हाल में ही मैं लौटा हूँ। इस अल्पकालीन यात्रा के दौरान मैंने गाँव तथा पहाड़ों – खासकर श्री लेगेट के न्यूयार्क प्रदेश में स्थित ग्राम्य-निवास का आनन्द लिया है। बेचारा लैंड्सबर्ग इस मकान से चला गया है। वह मुझे अपना पता तक नहीं दे गया है। वह जहाँ कहीं भी जाय – भगवान उसका मंगल करें। अपने जीवन में मुझे जिन दो-चार निष्कपट व्यक्तियों से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वह उनमें से एक है।

सब कुछ भले के लिए ही होता है। मिलन के बाद विच्छेद अवश्यम्भावी है। आशा है कि मैं अकेला ही अच्छी तरह से कार्य कर सकूँगा। मनुष्य से जितनी कम सहायता ली जाती है, भगवान से उतनी ही अधिक सहायता मिलती है ! अभी-अभी मुझे लन्दन के एक अंग्रेज सज्जन का पत्र मिला – वे मेरे दो गुरुभाइयों के साथ कुछ दिन हिमालय अंचल में रह चुके हैं। उन्होंने मुझे लन्दन बुलाया है।[८६]

न्यूयार्क, २२ जून १८९५ : मैं प्राय: उसी पुराने ढंग से मजे में रह रहा हूँ। अवसर मिलने पर बोल लेता हूँ; न मिलने पर मौन रहता हूँ। नहीं जानता कि इन गर्मियों में ग्रीनेकर जा सकूँगा या नहीं। कुछ दिनों पूर्व कुमारी फार्मर से भेंट हुई थी। वे लौटने की जल्दी में थीं, इसलिए उनसे विस्तार से बातें न हो सकीं। वे बड़ी नेक महिला हैं। ...

लैंड्सबर्ग अन्यत्र रहने चला गया है, इसलिए मैं अकेला

हो गया हूँ। मैं अधिकतर बादाम, फल तथा दूध पर ही रह रहा हूँ और यह मुझे बहुत अच्छा तथा स्वास्थ्यकर भी लगता है। आशा कहता हूँ कि इस ग्रीष्म में मेरा वजन ३० या ४० पौंड कम हो जायगा। मेरे आकार के लिए वह बिल्कुल ठीक होगा। श्रीमती एडम्स द्वारा दिये गये टहलने से सम्बन्धित पाठों को मैं एकदम भूल गया हूँ। जब वे दुबारा न्यूयार्क आयेंगी, तो मुझे उन्हें दुबारा सीखना होगा।...

इस वर्ष, व्याख्यान न देने के बावजूद मुझे सिर उठाने तक की फुरसत नहीं मिली। द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत – इन तीन महान् सम्प्रदायों से सम्बन्धित वेदान्त दर्शन के तीन महान् भाष्य भारतवर्ष से मेरे पास आ रहे हैं। आशा करता हूँ कि वे सुरक्षित पहुँचेंगे। उनसे मुझे वास्तविक बौद्धिक तृप्ति मिलेगी। इन गर्मियों में वेदान्त दर्शन पर एक पुस्तक लिखने की सोच रहा हूँ। यह संसार सदा सुख-दुःख और भले-बुरे का मिश्रण रहेगा; यह चक्र सदा नीचे-ऊपर चलता रहेगा, विनाश और पुनः सृष्टि अनिवार्य विधान है। वे धन्य हैं, जो इनसे परे जाने के लिए संघर्षरत हैं।[८७]

न्यूयार्क, २४ अप्रैल १८९५ : मैं भलीभाँति जानता हूँ कि थोड़े दिन से जो 'रहस्यवाद' पश्चिमी संसार में सहसा आविर्भूत हुआ है, उसके मूल में यद्यपि कुछ सत्य है, परन्तु अधिकांश में वह हीन और उन्मादी प्रवृत्ति से प्रेरित है। इस कारण मैंने धर्म के इस अंग से कोई सम्बन्ध नहीं रखा है – न भारत में, न कहीं और ही। और इन रहस्यवादियों का मैं पक्षपाती भी नहीं हूँ। ...

मै आपसे पूर्णतः सहमत हूँ कि, चाहे पूर्व में या पश्चिम में, केवल अद्वैत-दर्शन ही मानव जाति को 'पिशाच-पूजा' तथा इसी तरह के जातीय अन्धविश्वासों से मुक्त कर सकता है और वही मनुष्य को उसके स्वरूप में प्रतिष्ठित कर उसे सबल बना सकता है। स्वयं भारत में भी इसकी उतनी ही जरूरत है, जितनी कि पश्चिम में – शायद वहाँ से भी अधिक। पर यह काम कठिन और दुःसाध्य है। पहले इसमें रुचि उत्पन्न करनी होगी, फिर शिक्षा देनी पड़ेगी और अन्त में पूरे ढाँचे का निर्माण करने में अग्रसर होना पड़ेगा।

पूर्ण निष्कपटता, पवित्रता, विशाल बुद्धि और सर्वविजयी इच्छाशक्ति – इन गुणों से सम्पन्न थोड़े-से मनुष्यों को यह काम करने दो और सारे संसार में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जायेगा। पिछले वर्ष इस देश में मैंने व्याख्यान रूप में बहुत-सा कार्य किया, काफी प्रशंसा प्राप्त की, परन्तु यह अनुभव हुआ कि वह कार्य मैं अपने लिए ही कर रहा था। धीरज से चरित्र गढ़ना और सत्य की अनुभूति के लिये अदम्य प्रयास – इसी का मनुष्य जाति के भावी जीवन पर प्रभाव पड़ेगा। अतः इस वर्ष मैं इसी दिशा में कार्य करने की आशा रखता हूँ। मैं स्त्री-पुरुषों की एक छोटी-सी मण्डली को व्यावहारिक अद्वैत की अनुभूति की शिक्षा देने की चेष्टा करूँगा। नहीं मालूम कि इस कार्य में मुझे कितनी सफलता प्राप्त होगी। यदि कोई अपने देश और सम्प्रदाय की अपेक्षा मनुष्य जाति का भला करना चाहे, तो पश्चिम ही उपयुक्त कार्यक्षेत्र है। मैं आपके पत्रिका-सम्बन्धी विचार से पूर्णतः सहमत हूँ। पर उन सबके लिए आवश्यक व्यवसायिक बुद्धि का मुझमें पूरा अभाव है। मैं शिक्षा और उपदेश दे सकता हूँ और कभी-कभी लिख सकता हूँ। परन्तु सत्य पर मुझे पूर्ण श्रद्धा है। प्रभु मेरी सहायता करेंगे और वे ही मेरे साथ काम करने के लिए मनुष्य भी देंगे। मैं पूर्णतः शुद्ध, पूर्णतः निष्कपट और पूर्णतः निःस्वार्थ रहूँ – यही मेरी एकमेव इच्छा है।[८८]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

७५. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ५, पृ. ८१-२; **७६.** वही, खण्ड ६, पृ. ८६; **७७.** वही, पृ. ८७-८; **७८.** वही, खण्ड १०, पृ. २२१; **७९.** वही, खण्ड ४, पृ. २९९; **८०.** वही, खण्ड ५, पृ. ८६; **८१.** वही, खण्ड ३, पृ. २३४; **८२.** वही, खण्ड ३, पृ. २३६; **८३.** वही, खण्ड १०, पृ. २२१; **८४.** वही, खण्ड ३, पृ. ३८८; **८५.** वही, खण्ड ३, पृ. ३९२-९३; **८६.** वही, खण्ड ४, पृ. २९०; **८७.** वही, खण्ड ४, पृ. २९४; **८८.** वही, खण्ड ४, पृ. २७५

परलोक का प्रबन्ध करके संसार में रहो

मुसाफिर जब किसी नये शहर में पहुँचता है, तो सबसे पहले उसे रात बिताने के लिए किसी सुरक्षित डेरे का बन्दोबस्त कर लेना चाहिए। डेरे में अपना सामान रख लेने के बाद वह निश्चिन्त होकर शहर देखते हुए घूम सकता है। परन्तु यदि रहने का बन्दोबस्त न हो, तो रात के समय अँधेरे में विश्राम के लिए जगह खोजने में उसे बहुत तकलीफ उठानी पड़ती है। इसी प्रकार, इस संसाररूपी विदेश में आकर मनुष्य को पहले ईश्वर-रूपी चिर-विश्राम-धाम प्राप्त कर लेना चाहिए, फिर वह निर्भय होकर अपने नित्य कर्तव्यों को करते हुए संसार में भ्रमण कर सकता है। परन्तु यदि वह ऐसा नहीं करता, तो जब मृत्यु की घोर अन्धकारपूर्ण भयंकर रात्रि आएगी, तब उसे अत्यन्त क्लेश और दुःख भोगना पड़ेगा।

– ***श्रीरामकृष्ण***
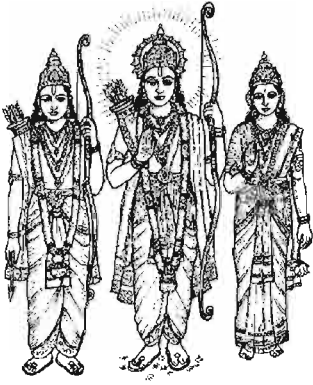
रामराज्य की भूमिका (४/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के प्रांगण में १९८८ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती के अवसर पर पण्डितजी ने जो प्रवचन दिये थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

'मानस' में रामराज्य का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, उसमें कौन-सी विघ्न-बाधायें हैं, जिनके कारण राम-राज्य नहीं बन पाता और उसे बनाने के लिये कैसी साधना तथा कैसे प्रयत्न अपेक्षित हैं? साधारण व्यक्ति के मन में यह धारणा बनी हुई है कि जिस राज्य में अधिक-से-अधिक सुख-शान्ति और व्यवस्था हो, वही रामराज्य है। रामराज्य का यह भी लक्षण है। यदि सुख-शान्ति न हो, समाज व्यवस्थित न हो, तो वस्तुत: उसकी कोई सार्थकता ही नहीं रह जायगी। किन्तु रामराज्य केवल इतना ही नहीं है। रामराज्य का तात्पर्य केवल व्यक्ति और समाज का बहिरंग विकास ही नहीं है, अपितु रामराज्य का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति और समाज के जीवन में समग्र दृष्टि से कैसे पूर्णता आये। इसीलिए जिस रूप में रामराज्य का प्रस्तुतीकरण किया गया है, उसमें मानो वे संकेत हैं जिनके कारण रामराज्य नहीं बन पाता। महाराज दशरथ के चरित्र की चर्चा की जा रही थी।

महाराज दशरथ पूर्व जन्म में महाराज मनु थे और उन्होंने समाज की व्यवस्था के लिये जिस स्मृति का निर्माण किया था, उसका नाम मनुस्मृति है। वह आज भी प्राप्त है। स्मृतियों में मनुस्मृति को सर्वाधिक महत्व प्राप्त है। पर क्या स्मृतियों के द्वारा, धर्मशास्त्र के वाक्यों के द्वारा रामराज्य की स्थापना हो सकती है? महाराज मनु का राज्य भी धर्मराज्य था और दशरथ के रूप में भी जब उन्होंने राज्य किया, तो वे प्रजा के प्रति उदार थे। प्रजा की सुख-सुविधा की उन्हें बड़ी चिन्ता थी और दशरथ का राज्य भी धर्मराज्य ही था। किन्तु धर्मराज्य के बावजूद महाराज दशरथ के संकल्प में कमी कहाँ है? उन्होंने यह मानने की भूल की कि लंका में भले ही रावण का राज्य हो, पर अयोध्या में रामराज्य बन सकता है। यह जो उनकी सोचने की पद्धति है, दशमुख और दशरथ का राज्य एक साथ रह सकता है, और रहता ही है; पर रामराज्य और रावण-राज्य एक साथ नहीं रह सकते।

दशरथ और दशमुख – इन नामों में एक समानता है और वह है 'दस' की। पर इसके बाद दोनों के नाम में अगला शब्द भिन्न है। एक के साथ 'रथ' लगा हुआ है और दूसरे के साथ 'मुख'। तो चाहे अयोध्या हो या लंका, व्यक्ति चाहे अच्छा हो या बुरा, दस में तो कोई अन्तर है ही नहीं। दस तो सबमें एक जैसा ही विद्यमान है। यहाँ दस से तात्पर्य है, शरीर की दस इन्द्रियाँ। अच्छे व्यक्ति के शरीर में भी दस ही इन्द्रियाँ होती हैं और बुरे व्यक्ति के शरीर में कोई कम इन्द्रियाँ नहीं होतीं। उसके शरीर में भी दस ही इन्द्रियाँ हैं। तो मनुष्य के शरीर में जिन दस इन्द्रियों का निर्माण किया गया है, उनका उदेश्य क्या है? जब हम किसी वस्तु का उपभोग करते हैं, स्वाद लेते हैं, तो 'मुख' के द्वारा लेते हैं। यहाँ 'मुख' शब्द इन्द्रियों का द्योतक है। जो भौतिकवादी, भोगवादी लोग होते हैं, वे यह मानकर चलते हैं कि यदि शरीर में इन्द्रियाँ मिली हुई हैं, तो इसका उद्देश्य यही है कि इनको सार्थक किया जाय। यदि इन्द्रियों के द्वारा भोगों को भोगना ही नहीं है, तो फिर इनकी क्या सार्थकता है? तो एक धारणा यह है।

इसी को गोस्वामीजी ने सुन्दरकाण्ड के प्रसंग में सांकेतिक भाषा में प्रगट किया है। हनुमानजी लंका के महलों में प्रविष्ट होते हैं। गोस्वामीजी ने महल शब्द का प्रयोग नहीं किया। उन्होंने लंका के हर भवन के लिये बार-बार मन्दिर शब्द का ही प्रयोग किया। उसकी पुनरावृत्ति की। काव्य में यह कवि की कमी मानी जाती है कि किसी एक ही वस्तु का बार-बार वर्णन करना हो, तो पर्यायवाची शब्द का प्रयोग होना चाहिए, एक ही शब्द को बार-बार नहीं दुहराना चाहिए। जैसे हनुमानजी ने जब श्रीसीताजी को सन्देश दिया तो शरीर के लिए उन्होंने उस प्रसंग में तीन भिन्न शब्दों का प्रयोग किया। हनुमानजी सीताजी का सन्देश प्रभु को सुनाते हुए कहते हैं –

बिरह अगिनि तनु तूल समीरा।
स्वास जरइ छन माहिं सरीरा।।
नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी।
जरइ न पाव देह बिरहागी।। ५/३०/७-८

पहले तन शब्द का प्रयोग किया, अगले वाक्य में उसी के लिये शरीर और फिर देह शब्द का प्रयोग किया। देह, तन और शरीर ये तीनों पर्यायवाची हैं, पर आन्तरिक अर्थों की दृष्टि से इन तीनों में भिन्नता है, क्योंकि पर्यायवाची शब्दों में भी, उनकी जो मूल धातु होती है, उसकी दृष्टि से अर्थ में बिल्कुल एकत्व नहीं होता। तन कोमल होता है, अत: जहाँ

रूई से तुलना करना है, वहाँ तन है। जहाँ जल जाने का प्रसंग है, वहाँ शरीर है। शरीर वह है, जो प्रतिक्षण शीर्ण हो रहा है – **प्रतिक्षणं शीर्यते**। तो कोमलता के अर्थ में तन; विनाशशीलता के अर्थ में शरीर और जब शरीर नष्ट नहीं हुआ, तो देह शब्द का प्रयोग किया गया। यह देह शब्द बना हुआ है उसका मूल धातु है – दिह अर्थात् दीर्घता। नहीं जला तो दीर्घता। जलने वाला था तो शरीर और जब रूई के समान था तो तनु। यह कवि की प्रतिभा का परिचायक है कि वह कैसे अलग-अलग पंक्तियों में ठीक-ठीक शब्दों का प्रयोग करता हुआ पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करता है।

हनुमानजी जब लंका में पैठते हैं, तो गोस्वामीजी गृह, भवन, महल आदि शब्दों का प्रयोग कर सकते थे। पर उन्होंने एक ही शब्द की पुनरावृत्ति की, बार-बार उसी 'मन्दिर' शब्द को दुहराया। गोस्वामीजी ने कहा –

मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा।
देखे जहँ तहँ अगनित जोधा।।
गयउ दसानन मंदिर माहीं।
अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं।।
सयन किये देखा कपि तेही।
मंदिर महुँ न दीख बैदेही।। ५/४/४-६

हनुमानजी लंका के हर मंदिर में गये और उन्होंने अगणित योद्धाओं को देखा। इसमें भी मन्दिर-मन्दिर शब्द दो बार। और फिर – सारे राक्षसों के मन्दिरों में पैठने के बाद वे रावण के मन्दिर में गये, जो बड़ा विचित्र था। फिर अगली पंक्ति में उसी शब्द की पुनरावृत्ति करते हैं – हनुमानजी ने देखा कि रावण सो रहा है। फिर शब्द वही है – **मंदिर महँ न दीख बैदेही** – पर रावण के मन्दिर में वैदेही का दर्शन नहीं हुआ।

तो गोस्वामीजी मन्दिर की जो बार-बार पुनरावृत्ति करते हैं, वैसे कोश की दृष्टि से इसमें कोई बहुत आपत्ति नहीं है। कोश में मन्दिर शब्द का अर्थ घर भी किया जाता है। परन्तु परम्परया इस शब्द का जब हम शब्द-प्रयोग करते हैं, तो जहाँ देवताओं का निवास है, उसे हम मन्दिर कहते हैं। जहाँ गृहस्थ रहता है, उसे हम गृह कहते हैं, भवन कहते हैं, कोई उत्कृष्ट भवन हो तो उसे महल कहते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा उसे हम व्यक्त करते हैं। पर हनुमानजी बार-बार मन्दिर शब्द का प्रयोग करते हैं, तो यह प्रयोग बड़ा ही चौंकाने वाला है। किसी उत्कृष्ट व्यक्ति के मकान को यदि हम मन्दिर भी कह दें, तो कुछ सार्थक लगेगा कि चलो, बड़ा उत्कृष्ट चरित्रवाला व्यक्ति है। पर जहाँ राक्षस रहते हैं, उसको बार-बार मन्दिर कहना! और उससे भी बड़ा विचित्र व्यंग्य यह था कि जब सारे मन्दिरों में सीताजी नहीं मिली और जब विभीषणजी जहाँ रहते थे, वहाँ पहुँचे तो गोस्वामीजी मन्दिर शब्द को हटाकर कहते हैं – उन्होंने विभीषण का भवन देखा। किसी ने कहा – महाराज, अभी तक तो लंका में सारे मन्दिर ही मन्दिर थे। क्या विभीषण मन्दिर में नहीं रहते थे? गोस्वामीजी ने कहा – वे मन्दिर में तो नहीं रहते थे, पर उनके घर के पास एक मन्दिर बना हुआ था –

भवन एक पुनि दीख सुहावा।
हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा।। ५/४/८

विभीषण जिस भवन में रहते हैं, उसके बगल में एक मन्दिर है। इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि सृष्टि में दो ही मन्दिर हैं, या तो दशानन-मन्दिर है या हरि-मन्दिर। जिसमें किसी देवता की पूजा हो रही है, वही तो मन्दिर है। दशानन -मन्दिर में भी दिन-रात पूजा होती रहती है। हम सब भी दशानन की ही पूजा अधिक करते हैं। अन्य मन्दिरों में एक-आध घंटे के लिए चले जाएँ, तो बड़ी बात है। उस पर भी बड़े गर्व से बताते हैं कि हम तो एक घंटे तक पूजा करते हैं। पर यह दशानन-मन्दिर का अर्थ क्या हुआ? जहाँ दस इन्द्रियोंवाले शरीर की पूजा हो रही है। यह पूजा तो सबसे अधिक प्रचलित है। कितनी परिश्रम से पूजा करते है। एक क्षण के लिए भी इस दशानन-मन्दिर की पूजा बन्द नहीं होती। हरि मन्दिर की पूजा तो हम मात्र औपचारिक रूप से करते हैं। उनके लिए तो हम समाग्रियाँ भी एकत्रित करते हैं, तो कभी-कभी लोगों की मनोवृत्ति देखकर आश्चर्य होता है। यदि पूजा के लिए सुपारी लेने जायँ, दुकानदार पूछ लेता है कि पूजा के लिये या खाने के लिए। पूजा के लिये है, तो सड़ी सुपारी और खाने के लिए है, तो बढ़िया सुपारी। इसका अभिप्राय है कि भगवान को अर्पित करना है, तो सड़ी हुई सुपारी और शरीर को अर्पित करना है, तो बढ़िया सुपारी।

सर्वत्र यह विचित्र द्वन्द्व दिखाई देता है। लंका में एकमात्र विभीषण ही हरि-मन्दिर के पुजारी हैं; बाकी सभी दशानन-मन्दिर के पुजारी हैं। फिर गोस्वामीजी ने शब्द भी कितना अच्छा चुना! हनुमानजी दशानन के मन्दिर में गये, तो लिख देते कि वहाँ सीताजी नहीं दिखाई पड़ीं। पर उन्होंने कहा – दशानन के मन्दिर में वैदेही नहीं दिखाई पड़ीं। कितनी बड़ी बात कही गई? वैदेही का अर्थ है – जो विदेह की पुत्री हैं और दशानन का अर्थ है – जो देह में बैठा हुआ है। तो यही विलक्षणता है – दशानन मन्दिर में वैदेही भला कहाँ मिलेंगी? अब वह वैदेही वहीं तो रहेगी, जहाँ विदेह वृत्ति हो। जिसका जीवन देह से ऊपर उठा हुआ है, उसी में तो वैदेही हो सकती हैं। जब हनुमानजी ने रावण को देखा, तो वह सो रहा था और इस सोने का सांकेतिक अर्थ है – व्यक्ति मोह के राज्य में, मोह की रात्रि में सो रहा है, बेसुध है –

मोह निसा सब सोवनि हारा।
देखिअ सपन अनेक प्रकारा।। २/९२/२

शरीर में स्थित रहनेवाला व्यक्ति मोह की रात्रि में सो रहा है

और इन्द्रियों के तर्पण तथा इन्द्रियों के सुख में विश्वास रखता है; भले ही वह शरीर के सन्दर्भ में कभी जागता और कभी सोता हुआ दिखाई देता है, पर वस्तुत: वह सदा सोता ही रहता है। ऐसी स्थिति में वहाँ वैदेही नहीं हो सकतीं। इसे कई अर्थों में लिया जा सकता है। वैदेही मूर्तिमान शान्ति हैं।

शान्तिसीता समानीता आत्मारामो विराजते ।

हनुमानजी देख रहे थे कि लंका के भवन तो सोने के हैं और यहाँ पण्डित, बड़े बुद्धिमान, बड़े स्वस्थ नागरिक हैं, पर देखें – यहाँ वैदेही है या नहीं? यह बड़ा स्वाभाविक चित्र है। आप किसी राष्ट्र के भवनों को ही न देखें। भवनों की ऊँचाई या व्यवस्था और शिक्षा के प्रसार को ही महत्त्व न दे, अपितु यह देखिए कि इन दिखाई देनेवाले मन्दिरों में, जिसमें केवल शरीर की पूजा हो रही है, क्या कहीं वैदेही भी हैं? लंकावासी स्वर्ण के भवन में रहकर भी, सुखद शैया पर सोकर भी, अशान्त हैं, उनके जीवन में शान्ति का लेश मात्र भी नहीं है।

हनुमानजी ने इस सत्य का अनुभव किया और जब बाद में लंका को जला दिया, तो उसका अभिप्राय यह था कि सब कुछ होते हुए भी जीवन में यदि शान्ति ही नहीं है। जागतिक वस्तुओं का परम उद्देश्य तो सुख और शान्ति पाना ही है, पर सुख को हमने भौतिक सामग्रियों के भोग से जोड़ दिया है और शान्ति का सम्बन्ध व्यक्ति के मन से है। यह समस्या व्यक्ति के सामने उस युग में भी थी और आज भी है – व्यक्ति को सुखानुभूति के लिए भोग के पदार्थ चाहिए। दूसरी ओर जब जितनी ही सुख-भोग की सामग्री एकत्रित होती है, मन से शान्ति उतनी ही दूर होती जाती है, क्योंकि शान्ति का सम्बन्ध मन से है। लोगों को लगता है कि बाहर दौड़ने से सुख मिलेगा और भीतर लौटने से शान्ति मिलेगी। व्यक्ति के सामने बड़ा कठिन प्रश्न है कि बाहर जाय या भीतर जाय? लंका में सुख है, उन्नति है, वहाँ तो उन्नति-ही-उन्नति हो रही है। गोस्वामीजी जब लंका की उन्नति का वर्णन किया, तो सबसे पहले सुख शब्द का प्रयोग किया –

सुख संपति सुत सेन सहाई ।
जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई ।। १/१८०/१

मेरे एक परिचित सज्जन वाराणसी के बड़े प्रसिद्ध वैद्य थे। वे अमेरिका गये। लौटकर आए, तो बोले – आप लोग तो रामराज्य की केवल चर्चा भर करते हैं, वस्तुत: रामराज्य देखना हो तो अमेरिका जाइए, रामराज्य तो अमेरिका में है। मैंने उनसे कहा कि आपने इतनी बड़ी भूल कैसे की? जब आप रामराज्य में पहुँच ही गये थे तो उसे छोड़कर क्यों आ गये? रामराज्य को छोड़कर यहाँ आने की क्या जरूरत थी?

उनका अभिप्राय था कि अमेरिका में इतनी सुख की सामग्रियाँ हैं, इतनी वस्तुएँ हैं, अट्टालिकाएँ हैं, परन्तु क्या यह कोई नई बात है? क्या कहीं लिखा हुआ है कि भौतिकवादी राष्ट्र उन्नति नहीं करता? कहीं नहीं लिखा है। यदि ऐसा होता तो लिखा जाता कि लंका में दरिद्रता का साम्राज्य था। पर जब गोस्वामीजी यह कहते हैं कि लंका में ये दस वस्तुएँ बढ़ रही हैं – सुख, सम्पति, पुत्र, सेना, सहायक, जय, प्रताप, बल, बुद्धि, बड़ाई – तो उनका अभिप्राय यह है कि देहवादी व्यक्ति पुरुषार्थवादी भी होता है। उसके लिए शरीर और उसका भोग ही सत्य होता है, अत: वह भोग-सामग्रियों को एकत्र करने में और भौतिक उन्नति में अपनी पूरी शक्ति लगा देता है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं। अत: वह क्यों नहीं उन्नति करेगा? वह व्यक्ति या राष्ट्र के रूप में उन्नति करेगा। किसी ने गोस्वामीजी से पूछा – महाराज, लंका में इतनी उन्नति हो रही है, तो लंका से बढ़कर उत्कृष्ट राज्य कौन होगा? बोले – उन्नति तो हो रही है, पर उसे उत्कृष्ट राज्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उन्हें शान्ति नहीं मिल रही है।

नित नूतन सब बाढ़त जाई ।
जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई ।। १/१८०/२

जैसे लोभी व्यक्ति को जितना लाभ होता है, उसी मात्रा में उसका लोभ भी बढ़ता जाता है और उसको कभी शान्ति नहीं मिलती, क्योंकि जब भी उसे कुछ मिलता है, तो उसे लगता है कि अभी तो और भी इतना-इतना पाना बाकी है।

अत: यदि आप रावण के लंका के घरों में जाएँ, तो यदि आप श्री हनुमान की – मूर्तिमान वैराग्य की भूमिका में हैं, तभी उसका ठीक मूल्यांकन कर सकेंगे। स्वर्ण भवन में, जहाँ सुन्दरियाँ सो रही हैं, वहाँ रागी होकर मत जाइये।

प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन तनय
विषय वन भवनमिव धूमकेतू ।। वि. ५८/८

वाल्मीकि रामायण में तो बड़ा विस्तृत वर्णन है कि जब हनुमानजी लंका के महलों में गये, तो चारों ओर कैसे स्त्रियाँ नग्न पड़ी थीं, सुरा की गन्ध आ रही थी, चारों ओर शृंगार का कैसा वासना का साम्राज्य था। वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि क्षण भर के लिए हनुमानजी के मन में यह प्रश्न आया कि पूरा वातावरण बड़ा अश्लील है और इस वातावरण में मेरा प्रविष्ट होना क्या उचित है? उन्होंने स्वयं की ओर देखा कि क्या इन वासनात्मक दृश्यों का मेरे मन पर कोई प्रभाव पड़ रहा है? क्या मेरे मन में कोई अश्लीलता, वासना की वृत्ति आ रही है? हनुमानजी ने अनुभव किया कि मुझे रंचमात्र किसी प्रकार की ऐसी अनुभूति नहीं है और तब वे निश्चिन्त हुए। हमारे वैद्यजी वैराग्य नहीं, राग लेकर अमेरिका गये थे और बहिरंग उन्नति तथा वस्तुओं को देखकर उन्होंने उसी को रामराज्य मान लिया। यदि वे हनुमान बनकर गये होते, तो वैसी बात उनको न दिखाई देती। व्यक्ति और संसार को हम राग की दृष्टि से देख रहे हैं और प्रभावित हो रहे हैं, पर जब हम वैराग्य की आँखों से देखते हैं, तो दृश्य पलट जाता है।

सूर्पणखा बड़ी सुन्दरी के रूप में लक्ष्मणजी के समक्ष गई और उनसे विवाह का प्रस्ताव किया, तो उन्होंने सूर्पणखा के लिए सुन्दरी शब्द का प्रयोग किया। सुनकर वह प्रसन्न हुई कि बड़े भाई ने तो मुझे एक बार भी सुन्दरी नहीं कहा, छोटा स्वभाव से सौन्दर्य-प्रेमी लगता है, पर उसे आश्चर्य हुआ, कह तो मुझे सुन्दरी रहा है और देख रहा है श्रीराम की ओर –

गइ लछिमन रिपु भगिनी जानी ।
प्रभु बिलोकि बोले मृदु बानी ।। ३/१७/१२

जब हम किसी से बात करते हैं, तो उसी की ओर देखते हुए बात करते हैं, परन्तु लक्ष्मणजी बात कर रहे हैं सूर्पणखा से और उनकी आँखें हैं भगवान की ओर। सूर्पणखा के मन में यह प्रश्न आया कि यह मुझे सुन्दरी तो कह रहा है, पर मेरी ओर देख क्यों नहीं रहा है? लक्ष्मणजी ने मन-ही-मन उत्तर दे दिया कि जब तक मैं नहीं देख रहा हूँ, तभी तक तुम सुन्दरी हो। जब मैं देख लूँगा तब तुम सुन्दरी बिल्कुल नहीं रह पाओगी। क्योंकि लक्ष्मणजी भी मूर्तिमान वैराग्य हैं –

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर ।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर ।। २/३२१

वासना सुन्दरी के रूप में आई है और लक्ष्मणजी कहते हैं कि वासना तभी तक सुन्दर दिखाई देती है, जब तक उस पर वैराग्य की दृष्टि नहीं पड़ती। वैराग्य की दृष्टि से तो उसकी कुरूपता सामने आ जायेगी। भगवान ने संकेत किया कि देहनगर लंका से आयी हुई, देह-मन्दिर के पुजारी दशानन की बहन – जीवन्त वासना का लक्ष्मण-रूपी वैराग्य द्वारा विरूपीकरण हो, ताकि लोग उसकी सच्चाई जान लें।

यहाँ लंका में वैराग्य के दूसरे रूप हनुमानजी हैं। उन्होंने लंका को देखकर सोचा – अरे यहाँ सब कुछ है, पर वैदेही नहीं है, शान्ति नहीं है। तब हनुमानजी ने लक्ष्मणजी की नाक-कान काटने के जैसी ही भूमिका सम्पन्न की। बहुत बढ़िया बात आती है। हनुमानजी जब लौटे गये, तो बन्दरों ने पूछा – आपने कुछ कार्य बड़े विचित्र किए – फल खाये और बाग उजाड़ दिया। आपने माँ से केवल फल खाने की आज्ञा माँगी थी, बाग उजाड़ने की नहीं; और लंका जलाने की भी आपको आज्ञा नहीं थी। वहाँ आपने इतना समृद्ध राष्ट्र देखा, तो उसमें आग लगाने में आपको कोई संकोच नहीं हुआ? यह नहीं लगा कि इतना आकर्षक नगर है, राष्ट्र है, इस पर हम अधिकार कर लेंगे, इसको जलाने की जरूरत नहीं है।

हनुमानजी ने दोनों प्रश्नों का बड़ा सुन्दर उत्तर दिया। बोले – मुझे तो भूख ही लगी थी और मैं फल ही खाना चाहता था। – तो फिर बाग क्यों उजाड़ दिया। बोले – यह फल खाने का फल था। – मतलब? हनुमानजी ने बड़ी सुन्दर बात कही। रावण की वाटिका और रावण का नगर – ये दो हैं। गोस्वामीजी कहते हैं – यह रावण की वाटिका कैसी है? **मोह बिपिन** (३/४३/१) – रावण मोह है और यह मोह की वाटिका; और लंका प्रवृत्ति का राज्य है – **सुप्रवृत्ति लंका दुर्ग** (विनय. ५८/२)। वैराग्य ने क्या किया? हनुमानजी बोले – भक्तिदेवी ने कृपा करके फल के द्वारा मंत्र दे दिया – प्रभु के चरणों को हृदय में धारण करके मधुर फल खाओ –

रघुपति चरन हृदयँ धरि तात मधुर फल खाहु ।। ५/१७

मैंने भक्ति देवी की कृपा पाई, आशीर्वाद पाया, तृप्ति मिली। भक्ति देवी के आशीर्वाद से फल खाने के बाद यदि मोह का बाग न उजड़े, तो फल खाना ही व्यर्थ है। मोह का बाग उजड़ना चाहिए। जब माँ ने आशीर्वाद दे दिया, तब भी क्या मोह की वाटिका ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी?

हनुमानजी जब लंका को जलाने लगे, तब भी गोस्वामीजी को वह मन्दिर शब्द नहीं भूला, उस समय –

हरि प्रेरित तेहि अवसर, चले मरुत उनचास ।
अट्टहास करि गर्जा कपि बढ़ि लाग अकास ।। ५/२५

और जब छलांग लगाने लगे, तो कहना चाहिए कि एक महल से दूसरे महल पर या एक भवन से दूसरे भवन पर, नहीं – एक मन्दिर से दूसरे मन्दिर पर –

देह बिसाल परम हरुआई ।
मंदिर तें मंदिर चढ़ धाई ।। ५/२६/१

हनुमानजी प्रत्येक मन्दिर में आग लगा रहे हैं। कह देते कि विभीषण का मन्दिर छोड़ दिया, परन्तु बोले –

एक बिभीषन कर गृह नाहीं ।। ५/२६/६

सारे मन्दिर जला दिए, पर विभीषण का घर छोड़ दिया। हनुमानजी से पूछा गया – वैसे ही आग लगाना बुरा है, पर आपने मन्दिरों को क्यों जला दिया? बोले – मैं लंका वालों और बाकी लोगों को भी बताना चाहता था कि शरीर-देवता की चाहे जितनी पूजा करो, अन्तत: इसे जलाना ही पड़ेगा। जलाने में शरीर-देवता की पूजा की पूर्णता है। जीवन भर शरीर-देवता की पूजा होती है और अन्त में उसे जला देते हैं। यहाँ हनुमानजी को दूसरी भूमिका महाकाल की है। महाकाल इस सत्य को स्पष्ट कर देते हैं कि शरीर को बचाने की हम चाहे जितनी भी चेष्टा करें, पर इसे जलने से कोई रोक नहीं सकता। विभीषण का घर छूट गया, तो भगवान महाकाल ने बता दिया कि विभीषण कौन है –

जीव भवदांघ्रि सेवक विभीषण
बसत मध्य दुष्टाटवी-ग्रसित चिन्ता । विनय. ५८

विभीषण जीव है। सारी लंका जल गई और विभीषण का घर नहीं जला, मानो हनुमानजी ने बताया –

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

इस जीव-तत्त्व को अग्नि द्वारा नहीं जलाया जा सकता। और शरीर को जलने से बचाया नहीं जा सकता। इस तरह शरीर की पूजा लंका-राष्ट्र की विसंगति है और सच्चे अर्थों में

हमारे जीवन की भी यही बिडम्बना है। ऐसे कितने व्यक्ति होंगे, जो सच्चे अर्थों में – हरि-मन्दिर में हरि की पूजा कर रहे हैं। हम चाहते तो रामराज्य हैं, पर पूजा करते हैं दशानन के मन्दिरों में। इसमें जो विरोधाभास की वृत्ति है, उसे यदि हम समझ सकें, तो वैराग्य-रूपी हनुमानजी प्रवृत्ति की लंका को जलाकर हमारा सत्य से साक्षात्कार करा सकते हैं।

एक ओर लंका में दशानन का राज्य है और दूसरी ओर अयोध्या में दशरथ हैं। गोस्वामीजी ने एक बड़ी अनोखी बात लिखी। प्राचीन काल में, सब राजाओं को परास्त करके जो एक सर्वश्रेष्ठ राजा होता था, उसको चक्रवर्ती सम्राट की उपाधि मिलती थी। तो भगवान राम का प्रादुर्भाव होने के पहले सारे संसार पर किसका राज्य था? गोस्वामीजी ने बड़ा विचित्र वाक्य लिखा। एक प्रसंग में तो उन्होंने लिखा –

ससुर चक्कवइ कोसल राऊ।
भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ।। २/९८/३

श्री सीताजी स्मरण करती हैं कि उनके ससुर महाराज दशरथ चक्रवर्ती सम्राट् हैं और दूसरी ओर रावण को भी चक्रवर्ती सम्राट् लिख दिया गया – मंडलीक राजाओं का शिरोमणि रावण अपनी इच्छानुसार राज्य चलाता था –

मंडलीक मनि रावन राज करइ निज मंत्र।। १/१८२ क

चक्रवर्ती सम्राट् तो एक ही होना चाहिए। क्या कहीं दो चक्रवर्ती सम्राट् हो सकते हैं? बाहर विश्व में भले ही यह सम्भव न हो, पर आन्तरिक जीवन का यही सत्य है। रामकथा को हम अपने आन्तरिक सन्दर्भ में देखें और स्वयं से प्रश्न करें कि हमारे अन्त:करण में दशरथ का राज्य है या दशमुख का। दशरथ का अभिप्राय यह है कि रथ के घोड़ों को नियंत्रित करके, उस पर बैठकर शीघ्रता से लक्ष्य की ओर बढ़ा जाय। यह एक विचारधारा है कि शरीर में इन्द्रियों को केवल इतना ही भोग करना चाहिये, जिससे शरीर की जरूरतें पूरी हो जायँ। व्यक्ति के जीवन का असल लक्ष्य तो कहीं और है – वह है दशरथ का स्वरूप।

दशरथ और दशमुख – यही जीवन का द्वन्द्व है। हमारे जीवन में भी है। बड़ा भोगी व्यक्ति भी कभी-न-कभी इन्द्रियों पर नियंत्रण की बात सोचता है। शरीर में कोई रोग हो जाय, तो उसको कह दिया जाता है कि तुम इन वस्तुओं को छोड़ दो। भले ही वह मन से न छोड़ना चाहता हो, पर उसे नियंत्रित तो करना ही पड़ता है। सच्चे अर्थों में व्यक्ति के जीवन का अन्तर्द्वन्द्व यही है कि कभी हमारी वृत्तियों में दशरथ की वृत्ति आती है और कभी दशमुख की वृत्ति आती है। एक ही साथ दो चक्रवर्ती सम्राट हमारे आपके जीवन में विद्यमान हैं। इसी अन्तर्द्वन्द्व को 'विनय-पत्रिका' (८१) में एक पद में बड़े सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया गया है।

दीनबंधु सुखसिंधु कृपाकर कारुनीक रघुराई।
सुनहु नाथ, मन जरत त्रिबिध जुर, फिरत सदा बौराई।।
कबहुँ जोगरत, भोग-निरत सठ, हठ बियोग-बस होई।
कबहुँ मोहबस द्रोह करत बहु, कबहुँ दया अति सोई।।
कबहुँ दीन, मतिहीन, रंकतर, कबहुँ भूप अभिमानी।
कबहुँ मूढ़ पंडित बिडंबरत, कबहुँ धर्मरत ग्यानी।।
कबहुँ देव जग धनमय रिपुमय, कबहुँ नारिमय भासै।
संसृति-संनिपात नाना दुख, बिनु हरिकृपा न नासै।।

यह व्यक्ति के अन्त:करण का चित्र है, जिसमें एक साथ ही दशमुख और दशरथ – दोनों का राज्य चलता है। मात्रा का भेद हो सकता है, पर अधिकांश लोगों के जीवन में ऐसा ही होता है। दशमुख तथा दशरथ के अलावा एक तीसरी श्रेणी भी है – विदेह की। मिथिला के स्वामी विदेह हैं। वे सबसे ऊपर हैं। उनकी अपेक्षा न्यूनता है दशरथ में और दशरथ की अपेक्षा न्यूनता है दशमुख में। इसको हम यों कह सकते हैं – देहनगर, देहाधिकार-नगर और विदेह-नगर। जब कोई व्यक्ति रथ पर बैठा होता है, तो घोड़ों में चंचलता होती है और वे अपनी गति का मनमाना प्रयोग करना चाहते हैं। पर रथ पर बैठा हुआ व्यक्ति – सारथी बार-बार उन घोड़ों की लगाम को खींचता है और रथ को सही दिशा में ले जाता है। तो दशरथ का व्यक्तित्व क्या है? जिस व्यक्ति के जीवन से वासना का आकर्षण नहीं मिटा है। उसकी इन्द्रियाँ भागने की चेष्टा तो करती हैं, पर वह बार-बार विवेक के द्वारा इन इन्द्रियों को नियंत्रित करने की चेष्टा कर रहा है। इन्द्रियों को नियंत्रित करने की यह चेष्टा ही मानो दशरथ की वृत्ति है। और विदेह? जो इन्द्रियों की वृत्ति से सर्वथा ऊपर उठ गया है, जिसको देह की आसक्ति है ही नहीं। उसके जीवन में कोई समस्या नहीं है कि मन विषय-वासना की ओर जा रहा है और विवेक के द्वारा उसको रोकने की चेष्टा की जाय। दशरथ की समस्या यह है कि वे विदेह नहीं है। उनमें मोहासक्ति की वृत्ति है और वे उसको विवेक द्वारा बार-बार नियंत्रित करने की चेष्टा करते हैं।

उनकी योजना का मूल संकल्प इसलिये भी पूरा नहीं होता कि उस समय यदि श्रीराम को सिंहासन पर बैठा दिया जाता और महाराज दशरथ यह घोषणा कर देते कि रामराज्य हो गया, तो यह सिद्ध होता कि रामराज्य और रावण-राज्य एक साथ रह सकते हैं। दशरथ-राज्य और दशमुख-राज्य भले ही एक साथ रहें, पर रामराज्य और रावण-राज्य एक साथ नहीं रहेंगे। रावण-राज्य के मिट जाने – मोह का पूरी तौर से विनाश हो जाने, देह-वृत्ति के पूरी तरह से दूर हो जाने के बाद ही अन्त:करण में सच्ची परिपूर्णता आती है, और तभी अन्त:करण में रामराज्य की स्थापना होती है। अन्त:करण में रामराज्य की स्थापना हो जाने के बाद ही बाहर भी रामराज्य की स्थापना होती है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

विद्या विनयेन शोभते

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

हमारे एक परिचित हैं। बड़े पण्डित हैं। उनका ज्ञान का क्षेत्र काफी विस्तृत है। वे किसी भी विषय पर संस्कृत साहित्य से धाराप्रवाह उद्धरण दे सकते हैं। पर लोग उनकी विद्या का लाभ नहीं उठा पाते। कारण यह है कि उनकी विद्वत्ता में मध्याह्न के सूर्य की सी प्रखरता है। दोपहर का सूर्य यदि आलोक देता है, तो ताप भी कम नहीं देता। दोपहर के सूर्य को न तो कोई देखता है, न देखने की इच्छा ही करता है। व्यक्ति यदि कमरे में हो, तो सूर्य के उत्ताप से बचने के लिए खिड़की पर पर्दा खींच लेता है। जहाँ सूर्योदय और सूर्यास्त को देखने के लिए मनुष्य में आग्रह होता है, वहीं सभी लोग मध्याह्न के सूर्य से बचना चाहते हैं। मनुष्य प्रकाश तो चाहता है, पर उसके ताप को नहीं चाहता।

यही बात विद्या के सन्दर्भ में भी लागू होती है। जिसमें अपने पाण्डित्य का अभिमान है, ऐसे व्यक्ति की विद्वता दूसरों पर धौंस जमाने के लिए होती है, इसलिए लोग उससे दूर भागते हैं। विद्या तभी कल्याणकारी होती है, जब वह विनय से युक्त होती है। विनय ऐसा गुण है, जो विद्या के उत्ताप से व्यक्ति की रक्षा करता है और विद्या का फल उसे प्रदान कर उसके जीवन को धन्य कर देता है।

विद्या अज्ञान पर नश्तर का काम करती है। किसी व्रण को जब हम नश्तर से चीरते हैं, तो लाभ तो होता है, पर व्यक्ति को उसकी पीड़ा का भोग भी करना पड़ता है। पर यदि एनिस्थीशिया के द्वारा व्यक्ति के उस अंग को सुन्न करके चीरा लगाया जाय, तो लाभ के साथ-साथ चीरे की पीड़ा से भी राहत मिल जाती है। विनय एनिस्थीशिया के समान है, जो हमारे अहंकार को सुन्न कर हमें विद्वता के उत्ताप से बचा लेती है।

वस्तुत: मनुष्य का ज्ञान ज्यों-ज्यों विस्तृत होता जाता है, उसमें ज्ञान की व्यापकता और अपनी क्षुद्रता को देख स्वाभाविक रूप से विनय का उद्रेक होता है। यदि ज्ञान के साथ मनुष्य में विनय न आये, तो समझना चाहिए कि ज्ञान की प्रक्रिया में कोई त्रुटि रह गयी है। आज की इस बीसवीं शताब्दी के बड़े बड़े वैज्ञानिक अधिकाधिक विनयी होते जा रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के विज्ञान का दम्भ आज दिखाई नहीं देता। तब वैज्ञानिक की दृष्टि में सब कुछ determined यानी निश्चित था। उस युग को वे Deterministic Age अर्थात् 'निश्चितवाद का युग' कहकर पुकारते थे। वे मानते थे कि विश्व की समस्त घटनाओं को गणित के समीकरणों में बाँधकर प्रस्तुत किया जा सकता है। पर आज ज्ञान की प्रभूत वृद्धि के कारण यह मान्यता नष्ट हो गयी है। हाइसनबर्ग द्वारा घोषित Principle of Indeterminacy यानी 'अनिश्चित-वाद के सिद्धान्त' के बाद से विज्ञान के क्षेत्र में जो नये और अत्यन्त व्यापक आयाम खुले हैं, उनसे वैज्ञानिक हतप्रभ हो गये हैं और अपनी क्षुद्रता का अनुभव करते हुए विनयी बने हैं। आइंस्टाइन विश्व की विराटता के प्रति सम्भ्रम और विनय के भाव में ज्ञान की सार्थकता देखते हैं। वे कहते हैं – "My religion consists of a humble admiration of the illimitable superior spirit, who reveals himself in the slight details we are able to perceive with our frail and feeble minds, that deeply emotional conviction of the presence of a superior reasoning power, which is revealed in the incomprehensible universe, forms my idea of God." अर्थात् "जो असीम उत्कृष्ट आत्मा उन छोटी-छोटी बातों में भी, जिन्हें हम अपने दुर्बल और अस्थिर मन से देखने में समर्थ होते हैं, अपने को प्रकाशित करती है, उसके प्रति विनयपूर्ण प्रशंसा का भाव पोषित करने में मेरा धर्म निहित है। अतीन्द्रिय जगत् में प्रकाशित होनेवाली एक उत्कृष्ट बौद्धिक शक्ति की विद्यमानता के प्रति गहरी भावनात्मक अवधारणा ही मेरी ईश्वर सम्बन्धी धारणा है।"

तात्पर्य यह कि सच्चा ज्ञानी इस अनन्त ज्ञानमय जगत् के समक्ष अपने को बौना अनुभव करता है। इसलिए उसमें ज्ञान के दम्भ का दंश नहीं रहता। यही ज्ञान की शोभा है। जैसे नारी की शोभा उसके वस्त्राभरणों से न हो, उसकी लज्जा से होती है, वैसे ही विद्या की शोभा विनय से होती है। कहा भी तो है – **विद्या विनयेन शोभते**।

योगीन्द्र मोहिनी विश्वास

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और उनके अनुरागी बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के उपाध्यक्ष हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी पहली मुलाकातों का वर्णन किया है। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

बलराम बोस[१] के मकान में श्रीरामकृष्ण अनेकों बार आये थे। इन्हीं में से किसी एक आगमन के समय योगीन्द्र मोहिनी पहली बार उनका दर्शन करने वहाँ आयी थी। १८८२ के उत्तरार्ध[२] की बात होगी। कलकत्ते में, और विशेषकर बागबाजार के उस अंचल में श्रीरामकृष्ण के बारे में अक्सर चर्चाएँ हुआ करती थीं, जहाँ योगीन्द्र मोहिनी निवास करती थी। यद्यपि वह श्रीरामकृष्ण के परम भक्त बलराम बोस से दूर के रिश्ते में कुछ लगती थी, पर उसने सम्भवत: श्रीरामकृष्ण के बारे में अपने अन्य निकट-सम्बन्धियों से सुना था, क्योंकि एक बार उसकी धर्मपरायणा दादी परमहंस के दर्शन करने दक्षिणेश्वर के मन्दिर में गयी थीं। कहते हैं कि श्रीरामकृष्ण की सादी वेशभूषा और व्यवहार ने उन्हें भ्रमित कर दिया था। वे अनजाने ही श्रीरामकृष्ण से मिल गयीं और उन्हीं से पूछा – "परमहंस कहाँ हैं?" लगता है कि श्रीरामकृष्ण तब भावावस्था में थे, इसलिए उन्होंने अपना परिचय नहीं दिया था।

बत्तीस वर्षीया योगीन्द्र मोहिनी 'असाधारण सौन्दर्य और गरिमामय व्यक्तित्व से सम्पन्न थीं, जिससे उनके चरित्र की विरल उदात्तता प्रतिबिम्बित होती'।[३] 'वे देखने और व्यवहार में राजपरिवार की लगती थीं।'[४] 'कमल सदृश चमक से भरे नेत्र, छोटे कद का भारी शरीर, गौरवर्ण कान्ति से युक्त वे दूरदर्शी तथा सन्तुलित निर्णय लेनेवाली थीं।'[५] उस दिन बलराम बाबू के यहाँ पैंतालीस वर्षीय श्रीरामकृष्ण भावावस्था में शराबी की तरह लड़खड़ा रहे थे। एक नवागन्तुका के लिए इन भगवत्प्रेम में उन्मत्त सन्त और एक शराबी में भेद करना मुश्किल था। बाद में अपनी पहली भेंट के बारे में उन्होंने बतलाया था, "एक दिन ठाकुर बलराम बाबू के यहाँ आये थे और हम लोग उनके दर्शन के लिए गये थे। यह मेरी पहली भेंट थी। ऊपर हॉल के एक कोने में ठाकुर दैवी भाव में डूबे हुए खड़े थे। उन्हें गहरी समाधि लगी हुई थी, बाह्यज्ञान लुप्त हो चुका था। सब लोग दूर से उन्हें प्रणाम कर रहे थे। हम लोगों ने भी ऐसा ही किया। तब तक मैं समाधि के विषय में कुछ नहीं जानती थी, न ही उसके महत्त्व को समझ सकती थी। मैं केवल इतना ही अनुमान कर सकी कि वे काली के भक्त हैं। परन्तु वे शराबी की भाँति उन्मत्त लग रहे थे।... मेरे मन में तत्काल एक विचार कौंधा – पहले ही एक शराबी ने मेरा जीवन बरबाद कर रखा है, तो क्या मेरा आध्यात्मिक जीवन भी इस दूसरे शराबी द्वारा नष्ट हो जायगा? वह मानो लाल बादल को देखकर भयभीत होने जैसा था।"[६] चूँकि जीवन के कटु अनुभवों ने उनके आत्म-विश्वास, उदार दृष्टिकोण, विश्वास और आशाओं को चूर-चूर कर दिया था, इसलिए अपने चारों ओर की घटनाओं और लोगों में सदाशयता और सुख-समाचार देखना वे प्राय: भूल गयी थीं। स्पष्ट ही वे सन्त की भावावस्था से प्रभावित न हो सकीं, विशेषकर जब उनका उसी तरह का रूप दिखायी दिया, जिसने उनके जीवन को दु:खमय बना दिया था। वे निराश होकर ही घर लौटीं।

योगीन्द्र को पता ही नहीं चला कि श्रीरामकृष्ण ने उनके जीवन को प्रभावित करना शुरू कर दिया है और इतनी गहराई के साथ कि जिसकी वे कल्पना भी नहीं कर सकती थी। श्रीरामकृष्ण से पहली भेंट ने ही उनके जीवन पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला था। श्रीरामकृष्ण का आध्यात्मिक आलोक से दीप्त मुखमण्डल उसके मानसपटल पर उभरता रहता। धीरे-धीरे उनके भीतर परमहंस के पुनर्दर्शन की इच्छा तीव्र हो उठी; और दूसरी मुलाकात के बाद उन्होंने बारम्बार उनके दर्शनार्थ जाना शुरू कर दिया। कई भेंटों तथा घनिष्ठ सम्पर्क के बाद पहली भेंट के समय हुई उनकी गलतफहमी दूर हो गयी।

---

१. अक्षयकुमार सेन रचित 'श्रीरामकृष्ण पुँथी' (बँगला) (पंचम संस्करण), पृ. ३०४ तथा 'Disciples of Sri Ramakrishna' (कलकत्ता, १९५५), पृ. ४७१ के अनुसार प्रथम मुलाकात दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर में हुई थी। **२.** आध्यात्मिक अनुभूति-सम्पन्न अरियादह के विष्णु नामक युवक ने आत्महत्या कर ली थी और श्रीरामकृष्ण ने इस विषय में १४ दिसम्बर, १८८२ को दक्षिणेश्वर में चर्चा की थी। श्रीमाँ सारदादेवी के कथनानुसार तब योगीन्द्र दक्षिणेश्वर के नौबत में मौजूद थीं। तथापि कई लोगों का मत है कि भेंट १८८३ में हुई थी। देखें, 'At Holy Mother's Feet' by Her Direct Disciples : (कलकत्ता, १९६३) पृ. २६४; **३.** भगिनी दयामाता : Sri Ramakrishna and His Disciples' (ला क्रेसेन्टा, कैलिफोर्निया; आनन्द आश्रम, १९२८), पृ. ११८; **४.** स्वामी निखिलानन्द : 'Holy Mother' (न्यूयार्क, रामकृष्ण विवेकानन्द सेंटर, १९६२), पृ. ६०; **५.** स्वामी निर्लेपानन्द : 'योगीन-माँ', प्रबुद्ध भारत, जुलाई १९४२, पृ. ३४१

६. लक्ष्मीमणि देवी और योगीन्द्रमोहिनी : 'श्रीरामकृष्ण स्मृति' (बँगला) (कलकत्ता : उद्बोधन कार्यालय, तृतीय संस्करण)

श्रीरामकृष्ण का अनाडम्बर जीवन, निश्छल चरित्र और बच्चों-जैसी सरलता, परन्तु साथ ही सागर-जैसी गम्भीरता देखकर वे आनन्द और अचरज से भर उठीं।

श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिक दृष्टि इतनी तीक्ष्ण थी कि पहली ही नजर में उन्होंने नवागन्तुका के हृदय को अच्छी तरह देखकर उसकी आध्यात्मिक ऊँचाई और सम्भावनाओं को परख लिया था। उन्होंने बाद में कहा था, "योगीन सामान्य स्त्री नहीं है – वह सहस्रदल पद्म की कली है, जो धीरे-धीरे प्रस्फुटित होकर अपने सौन्दर्य और सुरभि से सबको मुग्ध कर देगी।" यह इस बात का सूचक है कि किस प्रकार महान् गुरु श्रीरामकृष्ण देव के मार्गदर्शन में योगीन्द्र मोहिनी के जीवन में आध्यात्मिक विकास साधित हुआ था।

पाकशास्त्र में निपुण योगीन्द्र कभी-कभी कोई पकवान बनाकर श्रीरामकृष्ण के लिए ले जातीं और वे भी बालक के समान आनन्दित होकर उसे खाते। जब भी वे श्रीरामकृष्ण से विदा लेती, वे उसे 'फिर आना' कहकर विदा देते।

ठाकुर के मार्गदर्शन में योगीन्द्र मोहिनी धीरे-धीरे आध्यात्मिक रूप से इतनी उन्नत हो गयीं कि श्रीरामकृष्ण के स्त्री-भक्तों में वे 'सच्ची ज्ञानी'[७] कहलाने लगी। श्रीरामकृष्ण के मुख से निकली उपर्युक्त बात ही योगीन्द्र मोहिनी की आध्यात्मिक अवस्था का सबसे बड़ा प्रमाण है।

योगीन्द्र मोहिनी का जन्म, बागबाजार के सम्पन्न चिकित्सक और कलकत्ता मेडिकल कालेज के प्राध्यापक प्रसन्नकुमार मित्र के घर ५९, बागबाजार स्ट्रीट, कलकत्ता[८] में १६ जनवरी, १८५१ को हुआ था। प्रसन्नकुमार मित्र ने प्रसूतिविद्या में अच्छा नाम कमाया था। यद्यपि योगीन्द्र का जन्म अपने व्यक्तित्व की गहरी रहस्यमयता को लेकर हुआ था, फिर भी उनके लालन-पालन में उसकी धर्मनिष्ठ माता, डॉक्टर मित्र की द्वितीय पत्नी की जीवन्त देखरेख को नहीं भुलाया जा सकता। उस समय की प्रचलित सामाजिक प्रथा के अनुसार साढ़े छह वर्ष की उम्र में ही योगीन्द्र का विवाह खड़दह (२४ परगना) के प्रसिद्ध दानवीर जमींदार परिवार के दत्तक पुत्र अम्बिकाचरण विश्वास के साथ कर दिया गया। पर परिवार के लिए, विशेषकर युवती योगीन्द्र के लिए, यह अत्यन्त निराशा की बात हुई कि अम्बिका आलसी, रंगीन-मिजाज और उड़ाऊ किस्म का निकला तथा अपनी श्रद्धालु पत्नी के प्रेम के बदले उसने उसे सिर्फ तिरस्कार ही दिया। अम्बिका में किसी प्रकार का सुधार लाने में वे असफल रही। वह नैतिक रूप से भ्रष्ट होकर तथा सम्पत्ति लुटाकर कंगाल हो गया। इससे परिवार टूट गया। योगीन्द्र के एक पुत्र हुआ था, जो छह मास का होकर चल बसा और एक पुत्री थी जिसे स्नेह से 'गनु' कहते थे। पति के दुराचारी स्वभाव के विपरीत योगीन्द्र के स्वभाव में विलक्षण शान्तता तथा गरिमा थी। उन्होंने सदाचरण करते हुए बहुत मितव्ययता के साथ पति के घर में रहने का अभ्यास किया। वहाँ चारों तरफ अपव्यय और लाम्पट्य का वातावरण था। जैसे ही उनकी पुत्री 'गनु' का विवाह हुआ, उन्होंने एक कड़ा कदम उठाया – ससुराल में अपमान और अनाचार के साथ समझौता करने की बजाय उन्होंने सदा के लिए अपने पित्रालय बागबाजार में ही शरण लेना अधिक श्रेयस्कर समझा। वैसे पिता डॉक्टर मित्र का देहावसान हो चुका था, पर स्नेहमयी माता ने उन्हें अपना लिया। एक बार सही स्थान से भटक जाने से उसकी जीवन-नौका इन कई वर्षों तक पीड़ा और लांछना की नदी में भटकती रही थी। अब उसमें नयी लहर आनेवाली थी और यह अत्यन्त अप्रत्याशित रूप से होनेवाला था।

इस नयी लहर के ऊपर युगावतार श्रीरामकृष्ण विराजित थे। उन्होंने अपनी अपूर्व मेधा और विशाल हृदय द्वारा युग के वर्तमान और गौरवमय भविष्य के लिए हृदय व मस्तिष्क के सामंजस्य का एक सार्वजनीन धर्म प्रस्तुत किया। अपने सांसारिक जीवन के समस्त उतार-चढ़ाव में रहते हुए योगीन्द्र ने इस सन्त के चिन्तन में लगे रहने की चेष्टा की। जब उसने अपने हृदय को उनके शान्त और सूक्ष्म प्रभाव के लिए उन्मुक्त कर दिया, तो उससे उसे अपने आन्तरिक जीवन को सँभालने में सहायता मिली और कुछ शान्ति तथा राहत की अनुभूति हुई। फिर भी सांसारिक झमेलों से त्रस्त योगीन्द्र एक दिन इतनी बेचैन हो उठी कि उसने जल्दी से दक्षिणेश्वर जाकर अपनी अन्दरूनी समस्याओं और रहस्यों को सन्त को बतलाने का निश्चय किया। दूसरे दिन बड़ी सुबह सारा रास्ता पैदल चलकर जब वह दक्षिणेश्वर पहुँची, तो श्रीरामकृष्ण के दर्शन से ही उसे लगा कि उसका सारा अवसाद अद्भुत रूप से मिट गया है। बाद में उसने बगीचे से कुछ फूल चुनकर अपनी साड़ी के आँचल में बाँध लिये। आध्यात्मिक करुणा से प्रेरित हो श्रीरामकृष्ण ने, जो उस समय अपने कमरे के उत्तरी बरामदे की दीवाल से टिके बैठे थे, उन्हें पास से जाते देख मृदु कण्ठ से पूछा, "बेटी, तुम क्या ले जा रही हो?" उसने उन्हें फूल दिखलाये और फिर पास आकर उनके चरणों में वे फूल चढ़ा दिये। भक्तिभाव से की गयी इस पूजा ने श्रीरामकृष्ण के भीतर उच्च भाव पैदा कर दिया। वे दिव्यभाव में आरूढ़ हो गये और उन्होंने अपने चरण योगीन्द्र के सिर पर रख दिये। गोपाल की माँ वहीं पर थीं। वे श्रीरामकृष्ण की गोपाल-भाव से सेवा करती थीं। उनके सुझाव से योगीन्द्र ने श्रीरामकृष्ण के

७. 'महिला-भक्तों में योगीन ज्ञानी है।' देखे 'योगीन-माँ', लेखक स्वामी अरूपानन्द, उद्बोधन, २६ वाँ भाग, अंक ६, पृ. ३७०

८. स्वामी निर्लेपानन्द : 'योगीन-माँ', प्रबुद्ध भारत, जून १९४२, पृ. २९४-९५

चरण-कमल अपने हृदय से लगा लिये। इससे उन्हें कुछ आध्यात्मिक आवेग-सा अनुभव हुआ और यह विश्वास हो गया कि विष्णु गदाधर के चरण-कमलों की छाप उनके हृदय में आसीन हो गयी है।[९]

बाद में उन्होंने श्रीरामकृष्ण के पास आगमन के समय होनेवाले एक विशेष अनुभव की बात लिखी थी – "प्राय: ऐसा होता कि मैं उनके पास मन की किन्हीं विशेष उलझनों को लेकर जाती और आश्चर्यजनक रूप से कोई दूसरा उनसे वे ही या उनसे मिलते-जुलते प्रश्न पूछ बैठता और वे उनका जो समाधान देते, उससे मेरे भी सब संशय प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मिट जाते। सचमुच ही वे अन्तर्यामी थे।"

कुछ भेंटों के बाद उसका परिचय सारदादेवी से करा दिया गया, जो प्राय: उसी की उम्र की थीं। उन दोनों में एक-दूसरे के लिए बहुत गहरी आन्तरिकता और स्नेह-भाव जुड़ गया। उन दिनों की याद करके योगीन्द्र मोहिनी कहती थीं – "जब भी मैं माँ के पास जाती, वे मुझे अपने विश्वास में ले लेतीं और सलाह माँगतीं। मैं सात-आठ दिन के अन्तर से दक्षिणेश्वर जाती और कभी रात भी वहीं बिताती। माँ मुझे अलग नहीं सोने देतीं, वे मुझे अपने पास नौबत में ही सुलातीं।"[१०]

योगीन्द्र मोहिनी के लिए सारदादेवी गहरी आध्यात्मिकता और सांसारिक कर्तव्य-निर्वाह के समन्वय का आदर्श थीं। दक्षिणेश्वर के वे दिन अद्भुत आह्लाद के दिन थे। सारदादेवी और उनकी संगिनियाँ नौबत के चारों ओर लगी चिक के पीछे घण्टों खड़ी होकर भक्तों को लेकर श्रीरामकृष्ण की आनन्द-लीलाएँ देखती रहतीं। वे सारदादेवी को घर के कामकाज में सहायता देतीं। सारदादेवी योगीन्द्र द्वारा बनाया जूड़ा इतना पसन्द करतीं कि तीन-चार दिन तक फिर से उसके आने की बाट देखते हुए जूड़े को नहीं खोलतीं। इसके साथ ही योगीन्द्र एकान्त में आध्यात्मिक साधना करती रहतीं। गहरे ध्यान में अपने मन को डुबोने में योगीन्द्र का इतना अभ्यास हो गया था कि एक बार सारदादेवी ने कहा था, "योगीन की ओर देखो। उन दिनों वह इतने गहरे ध्यान में डूब जाती थी कि यदि आँख के भीतर मक्खी घुस जाय, तो भी उसे पता नहीं चलता था।"[११] सचमुच योगीन्द्र मोहिनी के लिए वे आनन्द के दिन थे और इसीलिए परवर्ती काल में वे कहतीं, "उस आनन्द को शब्दों में नहीं व्यक्त किया जा सकता। उसका विचार-मात्र ही अब मेरे हृदय को भर देता है।"[१२]

श्रीरामकृष्ण और सारदादेवी सूरज तथा चाँद की भाँति योगीन्द्र मोहिनी के जीवन को धीरे-धीरे गढ़ रहे थे, उसके भीतर की दिव्यता को कई रूपों में बाहर प्रकट कर रहे थे। ससुराल में कुलगुरु से लिये योगीन्द्र मोहिनी के मंत्र को श्रीरामकृष्ण ने अपनी पुष्टि देकर प्राणवान बना दिया था। जो मंत्र एक समय निर्जीव था, अब वह चमत्कार दिखा रहा था – अकथनीय आनन्द दे रहा था। योगीन्द्र के सामने जीवन का एक नया क्षेत्र खुल गया था। एक दिन भावावस्था में ठाकुर ने अपनी ओर संकेत करते हुए उसे बताया था, "देखो, तुम्हारे जो इष्ट हैं, वे इसके भीतर हैं। इसे सोचने से ही उनका स्मरण होगा।"[१३] और साक्षात् अनुभव ने श्रीरामकृष्ण की इस बात की सत्यता को सिद्ध कर दिया। उन्होंने योगीन्द्र को जप, ध्यान आदि की विधि सिखलायी थी। एक दिन जब वे श्रीरामकृष्ण के साथ नाव में जा रही थीं, तब उन्होंने कहा, "अरी, उन पर अपना भार क्यों नहीं सौंप देतीं? आँधी आने पर जूठी पत्तल की तरह पड़े रहना पड़ता है... । इसी प्रकार उन (भगवान) पर अपना सारा भार सौंपकर पड़े रहना पड़ता है – चैतन्य वायु मन को जिधर फिराना चाहे, उधर ही फिरना चाहिए, बस इतना ही।"[१४]

उन्होंने भी श्रीरामकृष्ण की और उसके बाद सारदादेवी की सेवा की। योगीन्द्र उनकी बातों को बिना कोई प्रश्न किये आदेश समझती थीं। उनकी थोड़ी-सी सद्भावना भी योगीन्द्र के लिए बहुत बड़ी कृपा थी। जब से एक दर्शन द्वारा श्रीरामकृष्ण ने उन्हें समझा दिया था, तब से वे श्रीरामकृष्ण और सारदादेवी को अभिन्न मानती थीं।[१५]

श्रीरामकृष्ण की सलाह पर उन्होंने भक्तिशास्त्रों को पढ़ना शुरू किया। अच्छी स्मरण-शक्ति होने के कारण उन्हें कई पुराण, रामायण, महाभारत और चैतन्य महाप्रभु की जीवनी याद हो गये। उनका अध्ययन इतना प्रामाणिक था कि भगिनी निवेदिता ने अपनी पुस्तक 'Cradle Tales of Hinduism' की भूमिका में लिखा है कि योगीन्द्र की "धर्मग्रन्थों के अध्ययन की गहराई और जानकारी की बराबरी उनकी नयी विद्यार्थिनी (निवेदिता-जैसी) को सदा सहायता देने की तत्परता से की जा सकती है।" योगीन्द्र बागबाजार में स्थित निवेदिता स्कूल में महिलाओं के (२ नवम्बर, १९०३ को शुरू हुए) विभाग में गीता-जैसे धार्मिक विषयों की कक्षा भी लेती थीं।[१६]

श्रीरामकृष्ण और सारदादेवी के आध्यात्मिकतापूर्ण जीवन

९. स्वामी सारदानन्द : 'भगवान श्रीश्रीरामकृष्णदेव', बँगला (कलकत्ता बंगाब्द १३५२), पृ. ७; **१०.** स्वामी माधवानन्द एवं रमेश चन्द्र मजूमदार द्वारा सम्पादित `Great Women of India' (कलकत्ता, अद्वैत आश्रम, १९५३), पृ. ४४३; **११.** Direct Disciples : `At Holy Mother's Feet', पृ. ३०४; **१२.** वही, पृ. २८९-९०

१३. स्वामी गम्भीरानन्द : 'श्रीरामकृष्ण भक्तमालिका', भाग २, पृ. ५२१; **१४.** स्वामी सारदानन्द : 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग', भाग २, पृ. ४३९; **१५.** 'भक्तमालिका', भाग २, पृ. ५२७; **१६.** प्रव्राजिका आत्मप्राणा : `Sister Nivedita' (कलकत्ता : भगिनी निवेदिता कन्याशाला, १९६३) पृ. १५३; तथा शंकरी प्रसाद बसु, 'निवेदिता लोकमाता', (बँगला) (कलकत्ता : आनन्द पब्लीशर्स), पृ. २३४

ने स्वाभाविक ही योगीन्द्र को और भी अधिक गहरी आध्यात्मिक साधनाओं के लिए प्रेरित किया उसने अपने को कई प्रकार की तपस्याओं और साधनाओं में लगा दिया, जिसके फलस्वरूप जीवन के ध्येय की ओर उसकी प्रगति तीव्रता से होने लगी। श्रीरामकृष्ण ने मुस्कुराते हुए सच्ची निष्ठा के प्रभाव की ओर उसका ध्यान आकर्षित करते हुए कहा था, "तुम्हारे लिये अब और क्या पाना शेष रहा? (अपनी ओर दिखाकर) तुमने इसे देखा है, इसको खिलाया है और इसकी सेवा की है।"[१७] वास्तव में उनमें श्रीरामकृष्ण के प्रति इस प्रकार का काफी गहरा विश्वास हो गया था। जब वे २८ जुलाई १८८५ को योगीन्द्र के घर गये, तब उन्होंने उनसे प्रार्थना की थी कि कृपा कर वे उनके सोने के कमरे में भी पधारें, ताकि उनकी चरणधूलि पड़कर उनका घर काशी-जैसा पावन बन जाय, ताकि जब वे वहाँ मरें, तो उनकी मुक्ति हो जाय।[१८] इन सबके बावजूद श्रीरामकृष्ण ने आध्यात्मिक रस में सराबोर हो जाने के लिए योगीन्द्र के मन में तपस्या करने की तीव्र आकांक्षा जगा दी, जिससे जीवन के उद्देश्य के विषय में उनकी सब भ्रान्त धारणाएँ मिट जायँ, सारे संशय निकल जायँ और जीवन के लक्ष्य के प्रति अटूट निष्ठा बन जाय। इस प्रकार तैयार हो, वे आध्यात्मिकता के पथ पर लगातार प्रगति करती चली गयीं। इसके साथ ही उन्होंने उन्हें निष्काम भाव से सेवा करना भी सिखाया, जिससे उसका नैतिक चरित्र मजबूत हो सके तथा सारदादेवी की स्नेहछाया और निदर्शन में दु:खी लोगों के, विशेषकर नारी-जाति के, दु:ख के मोचन के लिए अग्रणी बन सकें।

एक दिन उसके पास समाचार आया कि उसके शराबी पति अम्बिकाचरण को पागल कुत्ते ने काट लिया है। उन्हें योगीन्द्र के पित्रालय में लाया गया। पर चिकित्सा और श्रद्धालु पत्नी की अच्छी सेवा के बावजूद उन्हें अधिक दिन तक नहीं बचाया जा सका। अपने जीवन की पुरानी कटु स्मृतियों से भरी और अब पति के बिछोह के दु:ख से पीड़ित योगीन्द्र सम्भवत: ठाकुर की बीमारी की भीषणता का अनुमान नहीं कर सकी थी। इसीलिए उन्होंने वृन्दावन जाकर कठोर तपस्या करने की सोची, जबकि उस समय श्रीरामकृष्ण काशीपुर में गले की व्याधि से गम्भीर रूप से पीड़ित थे। जब उन्होंने श्रीरामकृष्ण के पास जाकर अनुमति माँगी, तो उन्होंने उन्हें उत्साहित किया। पास में खड़ी सारदादेवी की ओर दृष्टि डाल श्रीरामकृष्ण ने योगीन्द्र से कहा, "बेटी, उसे राजी करके जाना, तुम्हें सब कुछ मिल जायगा।" दूसरे दिन योगीन्द्र ने आकर ठाकुर और माँ सारदा से आशीर्वाद लेकर वृन्दावन के लिए प्रस्थान किया।[१९]

यद्यपि वे अपनी तपस्या में डूबी हुई थीं, पर कलकत्ता में श्रीरामकृष्ण की महासमाधि का समाचार पाकर उन्हें गहरा धक्का लगा। शीघ्र ही वह सारदादेवी से वृन्दावन में मिलित हुईं। वे दोनों मिल जब श्रीरामकृष्ण के चले जाने के दु:ख से दुखी होकर विलाप कर रही थीं, तभी एक दिन श्रीरामकृष्ण ने दर्शन देकर कहा था, "मैं यहीं तो हूँ। गया कहाँ हूँ? यह तो मानो केवल एक कमरे से दूसरे कमरे में जाने जैसा है।" अब उच्चतर ज्ञान-लाभ की तीव्र आकांक्षा योगीन्द्र को अनमोल आध्यात्मिक अनुभूति की ओर ले गयी। एक दिन लालाबाबू के मन्दिर में उन्हें समाधि लग गयी, जिसको स्वीकारते हुए उन्होंने कहा था, "उस समय मेरा मन गहरे ध्यान में इतना डूब गया था कि मैं संसार के अस्तित्व को पूरी तरह भूल गयी थी।... मैं सर्वत्र अपने इष्ट की उपस्थिति देख सकती थी। ऐसी अवस्था तीन दिन तक बनी रही थी।"[२०] वास्तव में उनका जीवन व्रतों और तपस्या से भरा था। माँ सारदा के संग में उन्होंने भी पंचतपा किया था। उन्होंने स्वामी सारदानन्द जी से पुरी में संन्यास-दीक्षा ली थी, वैसे वे सिर्फ पूजा के समय गेरुआ वस्त्र धारण करती थीं। एक दिन ध्यान करते समय उन्हें बलराम और श्रीकृष्ण के कई बार दर्शन हुए थे, परन्तु उसके शीघ्र बाद ही, विशेषकर एकमात्र पुत्री गनु के मरणोपरान्त, इस प्रकार के दर्शन मिलने बन्द हो गये। इसके बाद उन्हें अपना बहुत-सा समय अपने तीन नातियों की सेवा में लगाना पड़ता था। इन सांसारिक जिम्मेदारियों के बावजूद उन्होंने अपनी तपस्या-वृत्ति को वैसी ही एकनिष्ठ श्रद्धा के साथ अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक बनाये रखा।

आध्यात्मिक अनुभवों के आनन्द को छोड़ उनके जीवन के अधिकांश भाग की कहानी सम्भवत: दु:ख और पीड़ा की ही गाथा है। १९०६ में उनकी एकमात्र कन्या विधवा हो गयी और तीन साल बाद एक नाती की मृत्यु हो गयी। उसके शीघ्र बाद कन्या का भी देहावसान हो गया। उनका अधिकांश समय अब तीन नातियों के पालन-पोषण तथा अपनी वृद्धा माता की सेवा में ही बीतता। १९१४ में उनकी वृद्धा माता भी चल बसीं।

उनके हृदय की गहराइयों में सांसारिक लगाव के जो कण बचे थे, निकट सम्बन्धियों की एक-एक कर मृत्यु ने उनका शोधन कर दिया। इससे उनको न सिर्फ असीम सहन-शक्ति और दृढ़ मानसिक बल मिला, बल्कि गहरे दिव्य भाव को जगाने और सर्वोच्च ज्ञान-प्राप्ति में भी सहायता मिली।

श्रीरामकृष्ण-जैसे आध्यात्मिक जौहरी ने जो रत्न अपने पास एकत्र किये थे, जिसे भक्त लोग श्रद्धा से योगीन-माँ कह

१७. `Disciples of Shri Ramakrishna', पृ. ४७२; **१८.** श्री 'म' : 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत', भाग ३, पृ. २४१ (नागपुर, द्वितीय संस्करण)। **१९.** स्वामी गम्भीरानन्द : 'श्रीमाँ सारदादेवी' (अद्वैत आश्रम, मायावती, द्वितीय संस्करण), पृ. १६७; **२०.** `Women Saints of East and West' (लन्दन : दि रामकृष्ण वेदान्त सेण्टर, १९५५), पृ. १३१

कर पुकारते। किसी बात को जल्दी समझने की कला में, दु:खी लोगों की पीड़ा के प्रति गहरी सहानुभूति में तथा सर्वोपरि माँ सारदा की जया[२१] के समान संगिनी के रूप में उनकी भूमिका विशिष्ट थी। माँ सारदा उनसे इतना स्नेह और अपनत्व रखतीं कि न केवल दैनन्दिन समस्याओं में, अपितु मंत्र और आध्यात्मिक विषयों में भी वे उनसे सलाह लेतीं।[२२] उनकी पवित्रता, विनम्रता, सहृदयता, कठोर साधना, शान्त एवं गम्भीर स्वभाव और श्रीरामकृष्ण के भक्तों के प्रति वात्सल्य भाव ने उन्हें सबका प्रिय बना दिया था। निष्ठावान हिन्दू होने पर भी उनका दृष्टिकोण उदार था। उनमें 'नये धार्मिक भाव या विचार में तुरन्त प्रवेश करने की जो क्षमता थी', भगिनी निवेदिता ने उसकी भूरिभूरि प्रशंसा की थी।[२३]

एक सांसारिक नारी से एक उच्च आध्यात्मिक सिद्ध के रूप में परिवर्तित हो, योगीन-माँ ने आध्यात्मिक विकास की कठिन ऊँचाइयों को प्राप्त किया था। अपने कलकत्ता के मकान में भी एक बार उन्हें समाधि लगी थी।[२४] उनकी एकनिष्ठ भक्ति से प्रसन्न हो श्रीरामकृष्ण ने उन्हें आशीर्वाद दिया था कि उनकी मृत्यु महासमाधि द्वारा होगी।[२५] स्वामी विवेकानन्द ने भी भविष्यवाणी की थी, "योगीन-माँ, तुम्हारी मृत्यु समाधि में होगी, क्योंकि एक बार जिसे उस परमानन्द की अवस्था का अनुभव हो जाता है, मृत्यु के समय उसमें उसकी स्मृति पुन: जाग जाती है।" हिन्दू नारी के विषय में स्वामी विवेकानन्द ने जो आशा बाँध रखी थी, उसकी पूर्ति करनेवाली नारियों में योगीन-माँ एक उत्कृष्ट उदाहरण थीं। स्वामीजी ने अपने एक पत्र में लिखा था, "इस अनुपम शक्ति को भारत में पुन: जाग्रत् करने के लिए माँ (सारदा) का जन्म हुआ है और उन्हें केन्द्र बनाकर फिर से गार्गी और मैत्रेयी-जैसी नारियों का जन्म संसार में होगा।"[२६] इसके बहुत पूर्व ही श्रीरामकृष्ण ने योगीन-माँ के बारे में कहा था, "वह कृपासिद्ध गोपी है।"[२७] और इससे शायद यह समझ में आ सके कि उन्होंने अपनी आध्यात्मिक साधनाओं में इतनी बड़ी सफलता कैसे हासिल की।

२१. सारदादेवी योगीन्द्र का उल्लेख 'मेरी जया' कहकर करतीं। जगन्माता दुर्गा की दो संगिनियों में एक जया है, दूसरी है विजया। **२२.** स्वामी निर्लेपानन्द : 'योगीन-माँ', प्रबुद्ध भारत, जुलाई १९४२, पृ. ३४१; **२३.** 'The Complete Works of Sister Nivedita', (कलकत्ता, भगिनी निवेदिता कन्याशाला), भाग १, पृ. १०७; **२४.** स्वामी अरूपानन्द : 'योगीन-माँ', पृ. ३६७; **२५.** बैकुण्ठनाथ सान्याल : 'श्रीश्रीरामकृष्ण-लीलामृत' (बँगला) (कलकत्ता : बसुमती साहित्य मन्दिर, बंगाब्द १३४३), पृ. ३६५; **२६.** 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड २, पृ. ३६१; **२७.** स्वामी सारदानन्द : 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग', भाग २, पृ. ४७४; और स्वामी सारदानन्द : 'भगवान श्रीश्रीरामकृष्णदेव' (बँगला), पृ. ४

माँ सारदा के लीला-संवरण के चार वर्ष बाद ४ जून, १९२४ को योगीन-माँ ने समाधि में अपनी देह छोड़ दी। उनके मधुर जीवन और कार्यों की जो दिव्य छटा है, वह श्रीरामकृष्ण और माँ सारदा के श्रीचरणों में आश्रित सभी भक्तों के लिए सदैव शान्ति और प्रेरणा का स्रोत बनी रहेगी।

❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑

देश हमारा सबसे प्यारा

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

सब देशों में सबसे बढ़कर
न्यारा हिन्दुस्तान।
हमको लगता प्राणों से भी
प्यारा हिन्दुस्तान।।

भारत भी है-इसी देश का
परम पुरातन नाम,
इसकी धरती, नदियाँ, पर्वत
सब अति ही अभिराम,
महाकाल से भी न आज तक
हारा हिन्दुस्तान।।

अखिल विश्व में गौरवमय है
इसका ही इतिहास,
मानवता की आदि भूमि यह
मानव का उल्लास।
रहा बहाता सत्य-धर्म की
धारा हिन्दुस्तान।।

चाहे जो भी शरणागत हो,
उसका करता त्राण,
त्याग-तपस्या-शौर्य-सलिल से
सिंचित इसके प्राण।
पुण्य प्रकृति से सदा मनोहर
सारा हिन्दुस्तान।।

इसकी रक्षा में तत्पर हम
देंगे जीवन दान,
हम चमकेंगे बन कर इसके
अम्बर का दिनमान।
जग में जगमग रहे सदैव
हमारा हिन्दुस्तान।।

सारगाछी की स्मृतियाँ (३)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुये वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और ब्रह्मचारी बोधमय चैतन्य ने किया है, जिसे विवेक ज्योति के पृष्ठों में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – संपादक)

२३-१०-५८

महाराज जी सबेरे टहल कर आये और उन्होंने अपना एक-एक कुर्ता निकालते हुये कहा – "प्राणियों का जीवन कितना भयावह है !

Association और Identification - दोनों अलग भिन्न-भिन्न वस्तु है। मैं अपने को इस शरीर के साथ तादात्म्य कर दिया हूँ, Identified कर दिया हूँ। मैं स्थायी रूप से अपने को शरीर मानता हूँ। किन्तु मेरा कुर्ता कहने से Association - संयुक्त, सम्बन्ध बोध होता है। अपने को इस शरीर के साथ एकत्व बोध करता हूँ, किन्तु वही शरीर कमीज के साथ Association (संबंध) का अनुभव करता है।
(Identification = Permanent association
Association = Temporary Identification)

दोपहर में महाराज जी के थोड़ा विश्राम करने के बाद सेवक उनके पास गया। महाराज ने कहा – "निद्रा और मृत्यु में क्या अन्तर है? निद्रा में होश अज्ञान में विलीन हो जाता है। मृत्यु में भी वैसे ही होता है। किन्तु निद्रा में प्राण Monentum संवेगात्मक रूप से कार्य करता है और निद्रा के बाद पहले के सभी सम्बन्ध रह जाते हैं। किन्तु मृत्यु में प्राण बीज रूप में मन और बुद्धि के साथ Potential सूक्ष्म होकर रहता है एवं पूर्व सम्बन्धों को भूलकर नये संबंध के साथ अपने को जोड़ लेता है।"

आश्रम से छाता और आसन लेकर शाम को महाराज के साथ हम लोग भ्रमण के लिये निकले। थोड़ी दूर पर रेलवे लाईन के किनारे बेल के पेड़ के नीचे बैठकर महाराज जी विश्राम करते हैं और अनेकों चर्चायें होती हैं। रास्ता चलते समय सेवक ने एक कीड़े को मार डाला। उस संदर्भ में महाराज ने कहा – "शास्त्र में पंचसृणा का उल्लेख है। पंचसृणा – गृहस्थ के दैनिक लोक-व्यवहार में पाँच प्रकार की हिंसायें होती हैं – चूल्हा, सिलवट-लोढ़ा, झाड़ू, ढेंकी का मुसल और घड़ा। कई बार व्यक्ति अनजाने या किसी विशेष परिस्थिति में छोटी-छोटी हिंसा कर देता है, इसीलिये शास्त्रकारों ने इसके प्रायश्चित हेतु पाँच प्रकार के यज्ञ का उपदेश किया है। पंचमहायज्ञ – ब्रह्मयज्ञ, नृयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ और भूतयज्ञ।"

सेवक – महाराज, ठाकुर ने तो बात-बात में कामिनी-कांचन त्याग करने की बात कही है, किन्तु हमलोगों को तो कार्य करने पर इससे दूर रहना संभव नहीं हो पाता।

महाराज – ठाकुर ने कहा है – पुरुष स्वभावत: नारी को प्रेम करता है। नारी स्वभावत: पुरुष को प्रेम करती है। इसलिये इस शरीर पर से आसक्ति नहीं जाने से भगवान में मन नहीं लगेगा। इसीलिये तो साधु लोग इतना सावधान रहते हैं। हमेशा सजग रहना पड़ता है।

सेवक – महाराज, भगवान-दर्शन का क्या तात्पर्य है?

महाराज – भगवान-दर्शन का अलग से कोई तात्पर्य नहीं है। अपने को पंचकोशों से निकाल लेना ही मोक्ष है। संन्यास का अर्थ भी यही है।

सेवक – तो हमलोग ठाकुर-मंदिर में ही क्यों जाते हैं?

महाराज – "जब तक हमलोगों का शरीर-बोध रहेगा, तब तक भगवान के पास प्रार्थना करना होगा। तब हम लोग द्वैतवादी हैं। इसीलिए तो कहता हूँ, हमलोग अद्वैत-द्वैतवादी हैं। अर्थात् हम यह जानते हैं कि काली ही वह अखण्ड सच्चिदानन्द हैं। वे केवल एक रूप के द्वारा अपने आपको अभिव्यक्त कर रही हैं। ठाकुर को ही देखो न, अभी निर्विशेष हैं, और जब सब कुछ ब्रह्ममय देख रहे हैं, तब सविशेष हैं और एक कदम नीचे आकर सबमें नारायण – ईश्वर देख रहे हैं। सबसे अन्त में अपने रामकृष्ण रूपी शरीर में प्रवेश कर साधारण मानव बनकर नरेन और राखाल बना रहे हैं।

२४.१०.५८

एक व्यक्ति के साथ चर्चा के दौरान सेवक ने कहा – "ठाकुर की इच्छा होने से होगा।" यह सुनकर महाराज ने कहा – "तुम फिर से विटलामी - शरारत कर रहे हो। ईश्वर की क्या इच्छा और क्या अनिच्छा है, इसे क्या तुम समझते हो? सम्पूर्णत: 'अहंकार' का नाश होने पर ही ईश्वर की इच्छा कही जा सकती है। इसलिये पुरुषार्थ पर जोर दो। देखो न, तुमको चिकोटी काटने से ही तुम पैर चलाते हो, 'भाग्य का लेख' और 'अल्लाह का हुकुम' कहते-कहते ही यह देश पुरुषार्थहीन हो गया है।"

रामकृष्ण मिशन के राहत-कार्य (Relief Work) के सम्बन्ध

में चर्चा करते हुए प्रेमेश महाराज ने कहा – "ढाका में एक सभा हुई कि राहत-कार्य करना होगा। एक भक्त ने कहा – "मिशन के साधुओं को लोगों के घर-घर में जाकर राहत-कार्य करने की आवश्यकता है। उन्होंने संदर्भ देकर कहा कि स्वामी शिवानन्द जी ऐसा ही चाहते हैं। मैंने उनका विरोध करते हुये कहा – घर-घर में राहत-कार्य करके देखा हूँ, उसका अच्छा परिणाम नहीं होता। बल्कि सुव्यवस्थित रूप से एक जगह करना ही अच्छा है।

"उस समय शिलेट को केन्द्र करके एक भावान्दोलन आरम्भ हो गया था। यह सब साधुओं के आशीर्वाद से ही संभव हुआ था। मैं मछुआरिन के समान कथामृत घर-घर में वितरित किया हूँ। आचार्य के वंश में जन्म हुआ था, मेरी जन्म-कुंडली में आचार्यत्व करने की बात थी। महाराज लोगों की कृपा से वह स्वार्थपरता ठाकुर के भावान्दोलन के कार्य में लग गया।"

२५-१०-५८

बेलूड़ मठ के सारदापीठ से एक संन्यासी सबेरे आकर उपस्थित हुए हैं। उन्होंने महाराज से पूछा – "ध्यान करते समय गुरु-मूर्ति के बदले यदि ठाकुर का ध्यान करूँ, तो क्या कुछ खराब होगा?" महाराज ने कहा – "हमलोगों के गुरु तो वे ही हैं। मानव गुरु में वे ही प्रतीक रूप में रहते हैं। बचपन में ठाकुर का ध्यान करने का प्रयास करता था, किन्तु देखता कि बार-बार स्वामीजी का मुख प्रतिभासित हो रहा है। कुछ समय स्वामीजी का चित्र दूर रख दिया। ये सब साधना के एक-एक स्तर हैं।"

१७.११.५८

बरहमपुर से एक शिक्षक आये हुए हैं। उन्होंने कहा – "प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना दर्शन है।" प्रेमेश महाराज साथ-साथ कह उठे – "स्वामी विवेकानन्द का दर्शन ही मेरा एकमात्र दर्शन है।"

किसी दूसरे ने कहा – "महाराज जी, मैंने आश्रम के प्रवेश-द्वार पर ही दो पेड़ देखा – एक कामिनी फूल का और दूसरा कांचन फूल का।"

प्रेमेश महाराज ने शीघ्र ही उत्तर दिया – आश्रम के द्वार पर ये दो रखे गये हैं, अर्थात् आश्रम में प्रवेश करने पर उन दोनों को वहीं रख देना होगा।"

१८.११.५८

सबेरे ठीक ९ बजे प्रेमेश महाराज टहल रहे हैं। साथ में एक ब्रह्मचारी हैं। महाराज जी को पथ्य के रूप में पटसन का शाग खाना पड़ता है। खेत के बीच से आते समय देखा कि दोनों ओर खेत में पटसन के शाग की खेती हुई है। ब्रह्मचारी ने कुछ पत्ते वहाँ से तोड़ लिये। महाराज ने तुरन्त कहा – "ये किसकी जमीन की वस्तु तुम ले रहे हो? क्या तुमने उससे अनुमति ली है? इस प्रकार लेने से चोरी करना होता है। क्या हमारे ठाकुर की बात तुमने नहीं सुना है?"

महाराज जी आश्रम में एक (Easy-Chair) पर बैठते हैं। उसके मरम्मत की आवश्यकता थी। मिस्त्री कार्य कर रहा है, देखकर मैं उसे वहाँ ले जाकर रख आया। महाराज ने सुनकर कहा – "देखो, उसकी मजदूरी स्कूल देता है। उस समय में तुम्हारा कार्य कराना उचित नहीं हुआ। तुम एक काम करो। ये दो रूपये उसे देकर कहना कि वह दूसरे दिन थोड़ा अधिक कार्य कर दे।"

महाराज जी बरामदा में स्नान करते हैं। उनकी बाल्टी का रंग उड़ जा रहा है। उन्होंने मुझे कहा – "सरोज (एक संन्यास प्रार्थी) को कहो, थोड़ा उस बाल्टी में रंग लगा देगा।" फिर तुरन्त उन्होंने कहा – "क्या आवश्यकता है। दूसरे किसी के बाल्टी में तो रंग नहीं है। इसी बाल्टी से तो मेरा कार्य हो जा रहा है। इसके सिवाय इसमें रंग लगाने से कहाँ के पैसे से कहाँ का काम हो जायेगा ! रंग लगाने की जरूरत नहीं है।"

९-१२-५८

सेवक – महाराज, स्वामीजी की 'अवतारवरिष्ठ' की बात बड़ी भ्रामक है।

महाराज – "यही तो कुछ दिन पहले तुम कितने प्रोफेसरों का क्लास करके आये हो। क्या सभी प्राध्यापक एक समान पढ़ाते हैं? फिर एक ही आध्यापक किसी-किसी दिन ठीक से नहीं पढ़ाते हैं? यदि श्रोता अच्छे हों और यदि आवश्यक हो, मान लो सामने परीक्षा है, तो क्या वे जी-जान से नहीं पढ़ायेंगे? इस बार भी वही हुआ है, ऐसी परिस्थिति हुई है कि अवतार को अधिक प्रकाशित होना पड़ा, अभिव्यक्त होना पड़ा।"

प्रश्न – क्या सुषुप्ति में कोई बोध रहता है?

महाराज – "सुषुप्ति में 'अहं' का बोध नहीं रहता है। अर्थात् हम अपने को भूल जाते हैं। मैं क्या हूँ, यह भी नहीं जान सकता। अर्थात् हमारी सत्ता एक आवरण से ढकी रहती है, उसी आवश्यकता के हट जाने से अपने चैतन्य स्वरूप का बोध होता है। अर्थात् ज्ञान के समय यह आवरण नहीं रहता है।"

आश्रम के विभिन्न कार्यों की चर्चा करने पर महाराज ने कहा – "देखो, संसार में दो वस्तुयें हैं – स्वीकरणीय और अस्वीकरणीय। सभी वस्तुओं में तुम्हें निश्चित करना होगा कि कौन-सी वस्तु तुम्हारे लिए स्वीकरणीय है और कौन-सी अस्वीकरणीय, बहिष्करणीय है। उसके बाद निर्धारित करके अपने मार्ग पर चलो। नहीं तो बाजार का भाव-दर ही केवल

जानना होगा, बाजार करना नहीं होगा। तुम बाजार नहीं कर सकोगे। तुमको प्रसंगानुसार कहता हूँ, ठीक से सुनो, इसे अच्छी तरह से मन में बैठा लो –

तीन प्रकार की राजनीति है – १. समाचार पत्र-राजनीति – समाचार में छपी सूचनाओं को लेकर चिल्लाना। २. भक्त-राजनीति – कौन भक्त कैसा है, इसको लेकर समय नष्ट करना। ३. आश्रम-राजनीति – आश्रम के कार्यो को लेकर दल बनाना। उस दिन एक गृहस्थ ने आकर किसी साधु के सम्बन्ध में कुछ कहा, फिर बाद में एक श्लोक कहा – 'मन को न रंगकर, क्या गलती से कपड़ा रंग लिये योगी बाबा।' मैं बहुत लज्जित हुआ और संकोच में पड़ गया। इसलिये तुमलोगों को पहले से ही अपने आन्तरिक जीवन के बारे में सावधान करता हूँ।''

प्रश्न – महाराज, आप पुरुषार्थ पर बल देते हैं। जबकि दूसरे महाराज लोग कृपा के ऊपर जोर देते हैं, वे लोग कहते हैं – ठाकुर की कृपा, माँ की कृपा नहीं होने से नहीं होगा।

महाराज – ''असली बात है पुरुषार्थ God helps those who help themselves. – ईश्वर उन्हीं की सहायता करते हैं, जो अपनी सहायता स्वयं करते हैं। जितना ही अपने अज्ञान का आवरण खुलेगा, उतना ही वह व्यक्ति समष्टि चेतना के आकर्षण का अनुभव करेगा। उसी आकर्षण को ही हमलोग 'कृपा' कहते हैं। तुमको थोड़ा-सा तो करना ही पड़ेगा। इस सन्दर्भ में मैं कर्म के बारे में थोड़ा कहता हूँ। कर्म तीन प्रकार के होते हैं, जानते हो? संचित कर्म, क्रियमाण कर्म और प्रारब्ध कर्म। एक व्यक्ति के बैंक में १,००० हजार रूपये हैं वह एक तालाब खोदवाने के लिये ३०० रूपये उसमें से (प्रारब्ध में से) निकाल लिया। उसमें से २०० रूपये क्रियमाण हैं, कार्यरत हैं। फिर से क्रियमाण का फल संचित में जमा हुआ। अत: कर्म की गति शाश्वत है। इसीलिये ईश्वर से प्रेम करने के अतिरिक्त इससे मुक्ति नहीं है। ईश्वर को नहीं पकड़ने से इस चक्र से मुक्ति नहीं मिल सकती।

१२.१२.५८

सेवक – महाराज कथामृत में हमलोग सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के बारे में पढ़ते हैं, किन्तु साधु लोग तो सामान्यत: सत्त्वगुणी ही होते हैं, अब उन लोगों में रजोगुण, तमोगुण की क्या बात है?

महाराज – ''तुमलोगों का शरीर है, मन है, बुद्धि है और प्राण है। देह-मन-प्राण-बुद्धि इन सबमें भी सत्त्व, रज, तम रहता है। जैसे मान लो, देह का तम है – व्यक्ति को ईश्वर-चिन्तन करने की इच्छा है, किन्तु शरीर तैयार नहीं है। ठाकुर के मंदिर में बैठा है, किन्तु ईश्वर चिन्तन नहीं कर पाता, यह मन का तम है। बुद्धि का तम है कि वह व्यक्ति विचार नहीं कर पाता, जो मन में आ रहा है, उसे ही लेकर व्यस्त है। केवल बुद्धि को नष्ट कर रहा है।''

१३-१२-५८

महाराज – ''वे व्यक्ति जो इतनी देर तक बकबक करके चले गये कि ईश्वर साकार है या निराकार, बताओ तो, इससे क्या लाभ हुआ? साकार, निराकार आदि विचार कब तक है? जब तक आवश्यकता का बोध नहीं होता। आवश्यकता का बोध होने पर बाजार-दर मोल-भाव पूछना बन्द हो जाता है। आवश्यकता पड़ने पर जो मूल्य है, वही देकर वस्तु लानी पड़ती है। डूबो, डूबो, डूबो – डूब जाओ, निमग्न हो जाओ, डूबने से ही जान सकोगे। इस्लाम धर्म में मुस्लिमों की निष्ठा देखने योग्य है। वैष्णव-धर्म में भी वैसा ही है। असली उद्देश्य है मन को भीतर प्रवेश कराने का प्रयास करना।

''बल्ब में इलेक्ट्रिसिटी जब बोध करती है कि मैं बल्ब नहीं इलेक्ट्रिसिटी हूँ, तब वह अनुभव करती है कि सभी बल्बों में एक ही इलेक्ट्रिसिटी है। तब वह विराट हो जाती है। उसके बाद दिन में वही इलेक्ट्रीसिटी अपने में ही रहती है, तब वह स्वराट हो जाती है। यदि तुम बीच-बीच में, कभी-कभी ऐसा चिन्तन करो, तो मुझे प्रसन्नता होगी। अर्थात् मैं चैतन्य-स्वरूप सर्वव्यापी हूँ और पुन: वह मैं ही समाधि में 'अहं ब्रह्मास्मि' हूँ।

''ब्रह्म-दर्शन करने से क्या होता है, वह मुख से कहा नहीं जा सकता। तब क्या वह नहीं हो जाता है? क्या ब्रह्म की सत्ता नहीं रहती है? नहीं, वह तो निरन्तर विद्यमान है। क्या अचेत होकर? नहीं, चैतन्य रूप में तब क्या वह काठ होकर रहता है? क्या वहाँ सुख-दुख नहीं रहता? नहीं वहाँ केवल आनन्द है, तनिक भी निरानन्द नहीं है। यह सच्चिदानन्द और कोई नहीं है – यह 'मैं' ही हूँ। जो 'मैं-मैं' कर रहा है, वह स्वयं ही भूल गया है कि वह क्या है। पाँच ठो कॉथा (पंचकोश) जोड़कर अपने को इस देह, मन, बुद्धि में समझता है। इसी अहं को फूँक-फूँककर गुब्बारे के समान फुलाया है। किन्तु एक सूई चुभाकर फोड़ते ही भड़ाक से क्रोध, अंहकार बाहर आ जायेगा।

''सच्चिदानन्द ही कभी कृष्ण और कभी काली के रूप में दिखाई देते हैं। जब तक हम आत्मस्वरूप को नही जान लेते, तब तक मन में अनेकों प्रकार की कल्पनायें आती रहती हैं।''

❖ (क्रमशः) ❖

ध्यानसिद्ध स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विदेहात्मानन्द

श्रीरामकृष्ण का अद्भुत दर्शन

गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं – पहले भी तुम्हारे और मेरे अनेक जन्म हो चुके हैं, मैं उन सबको जानता हूँ, परन्तु तुम नहीं जानते। ईश्वरकोटि तथा जीवकोटि में यही भेद है। सामान्य जीव अपने पिछले जन्मों के अनुभव, कर्म-फलों तथा अपूर्ण कामनाओं के वशीभूत होकर बारम्बार जन्म लेता है, परन्तु ईश्वरकोटि के महामानव संसार के जीवों के कल्याण हेतु युगधर्म की स्थापना के द्वारा सबका पथ-प्रदर्शन करने जगत् में अवतीर्ण होते हैं। स्वामीजी के आविर्भाव के काफी पूर्व उनके गुरुदेव भगवान श्रीरामकृष्ण को उनके दिव्य जन्म के विषय में एक अलौकिक दर्शन हुआ था।

एक दिन दक्षिणेश्वर में बैठे हुए श्रीरामकृष्ण ध्यान करते हुए जब समाधिमग्न हुए, तो उनका मन ऊपर-ही-ऊपर उठता चला गया। चन्द्र, सूर्य तथा नक्षत्रखचित इस स्थूल जगत् को पार करता हुआ क्रमशः वह विचारों के सूक्ष्म जगत् में प्रविष्ट हुआ। धीरे-धीरे देवी-देवताओं की भावघन मूर्तियाँ भी पीछे छूटती गयीं। इसके बाद उनका मन नाम-रूपात्मक ब्रह्माण्ड की सीमा पार करके अन्ततः अखण्ड के राज्य में प्रविष्ट हुआ। श्रीरामकृष्ण ने देखा वहाँ सात दिव्य ऋषि बैठे हुए गहन ध्यान में तल्लीन हैं। ये ऋषि ज्ञान और पवित्रता में देवी-देवताओं से भी आगे पहुँचे हुए प्रतीत हो रहे थे। श्रीरामकृष्ण का मन उनकी इस अपूर्व आध्यात्मिकता पर विस्मित ही हो रहा था कि उन्होंने देखा कि उस समरस अखण्ड का एक अंश मानो घनीभूत होकर एक देवशिशु के रूप में परिणत हो गया। वह बालक अतीव मृदुतापूर्वक एक ऋषि के गले में बाँहें डालकर उनके कान में कुछ कहने लगा। उसके जादू-भरे स्पर्श से ऋषि का ध्यान भंग हुआ। उन्होंने अपने अधखुले नेत्रों से शिशु की ओर देखा। शिशु ने बड़ी प्रफुल्लता के साथ कहा, ''मैं पृथ्वी पर जा रहा हूँ, तुम भी आओगे न?'' ऋषि ने स्नेह-पूर्ण दृष्टि से स्वीकृति प्रदान की तथा पुनः अपने गहन ध्यान में डूब गये। श्रीरामकृष्ण ने विस्मयपूर्वक देखा कि उन्हीं ऋषि का एक सूक्ष्म अंश ज्योतिपुंज के रूप में पृथ्वी पर उतरा और कलकत्ते के दत्तभवन में प्रविष्ट हो गया। नरेन्द्रनाथ को पहली बार देखते ही श्रीरामकृष्ण ने उन्हें उन्हीं ऋषि के अवतार के रूप में पहचान लिया। साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि उन ऋषि को धरती पर उतार लाने वाले देवशिशु वे स्वयं थे।[१]

निद्रा के पूर्व ज्योतिःदर्शन

इस प्रकार स्वामीजी जगत् के कल्याणार्थ सप्तर्षि-मण्डल से अवतरित हुए थे। माया के राज्य में जन्म लेने के बाद धीरे-धीरे ही उनके जीवन में अलौकिक भाव प्रस्फुटित हुए थे। परन्तु बचपन में वे स्वयं भी अपनी इन विशिष्ट क्षमताओं के विषय में अनभिज्ञ थे। उन्होंने बताया है, ''जन्म से ही (रात में) सोते समय आँखें मूँदते ही मुझे अपनी भौंहों के बीच एक अपूर्व ज्योति-बिन्दु दीख पड़ता और मैं एकाग्र मन से उसके विविध परिवर्तनों को देखता रखता। उसे ठीक से देखने हेतु, जैसे मनुष्य भूमि पर सिर टेककर प्रणाम करता है, ठीक वैसे ही मैं बिस्तर पर लेट जाता था। वह बिन्दु विविध वर्णों में परिवर्तित होते हुए क्रमशः एक गोले का रूप धारण कर लेता और अन्त में फटकर तारों की भाँति बिखरते हुए अपनी शुभ्र ज्योति से मुझे आवृत्त कर लेता! ऐसी अवस्था होते ही मेरी चेतना लुप्त हो जाती और मैं निद्रा में डूब जाता था। बहुत दिनों तक मैं समझता रहा कि सभी लोग इसी ढंग से सोने जाते हैं। बड़े होने पर जब मैंने ध्यान का अभ्यास शुरू किया, तो आँखें मूँदते ही वह ज्योति-बिन्दु सामने आकर प्रकट हो जाती और मैं उसी में चित्त को एकाग्र कर लेता था। महर्षि देवेन्द्रनाथ (टैगोर) के उपदेश से जब मैं कुछ मित्रों के साथ प्रतिदिन ध्यान का अभ्यास करने लगा, तब हम आपस में चर्चा करते कि ध्यान करते समय किसे कैसी अनुभूति होती है! तब मुझे उन मित्रों की बातों से पता चला कि वैसा ज्योति-दर्शन किसी को नहीं हुआ है और उनमें से कोई भी मेरी तरह उस प्रकार लेटकर निद्रा में नहीं जाता है।''[२]

श्रीरामकृष्ण ने भी इस प्रसंग में बताया था, ''वह रात भर ध्यान करता है, ध्यान करते-करते भोर हो जाती है, होश नहीं रहता। ... वह सच्चा ब्रह्मज्ञानी है। ध्यान करने बैठते ही उसे ज्योति-दर्शन होता है! ... जो लोग ध्यानसिद्ध होते हैं, वे ही इस प्रकार ज्योति देख पाते हैं।''[३]

अनेक वर्षों बाद उनके एक गुरुभाई ने उनसे वह ज्योति-दर्शन कराने का अनुरोध किया था। बाद में उन्होंने बताया कि स्वामीजी ने ज्योंही उनके कपाल पर हाथ रखा, त्योंही बाह्य जगत् पूरी तौर से रूपान्तरित हो गया और उसकी जगह वे मात्र एक अखण्ड ज्योति-समुद्र देखने लगे।[४]

बचपन से ही ध्यान की प्रवृत्ति

शैशव से ही वे अपनी माता के मुख से बड़ी रुचि के साथ रामायण, महाभारत तथा पुराणों की कथाएँ सुना करते थे। उसके फलस्वरूप उन्हें विभिन्न देवी-देवताओं के साथ विशेष

---

१. द्रष्टव्य – श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, स्वामी सारदानन्द, सं. २००८, खण्ड २, पृ. ८१५-१६ (आगे केवल 'लीलाप्रसंग' नाम से उद्धृत); **२.** वही, पृ. ८१९; **३.** वही, पृ. ८३१; **४.** युगनायक विवेकानन्द, भाग १, सं. १९९८, पृ. ३४; स्वामी विवेकानन्द (बँगला), प्रमथनाथ बसु, सं. १९९४, पृ. १६

लगाव हो गया था। सीता और राम की गाथा को सुनकर वे इतने आकृष्ट हुए कि वे उनकी मूर्तियों को फूलों से सजाते और सहज भाव से पूजा करते। एक दिन वे ऊपर के अपने पूजाघर का दरवाजा बन्द करके अपने हरि नामक मित्र के साथ सीताराम की मूर्ति के सामने बैठकर ध्यान करते हुए इतने तन्मय हो गये कि उन्हें स्थान-काल आदि का बोध नहीं रहा। काफी देर से उनके दिखाई न देने पर, घर के लोग चिन्तित होकर उन्हें इधर-उधर ढूँढ़ने लगे। किसी के मन में आया कि क्यों न एक बार छत पर भी देख लिया जाय! वहाँ जाने पर पता चला कि सीढ़ीघर का द्वार भीतर से बन्द है। बहुत धक्के देने पर भी उसके न खुलने पर अन्ततः उसे तोड़ देना पड़ा। दूसरा बालक तो उस द्वार से होकर भाग निकला, पर नरेन्द्र तब भी धीर-स्थिर भाव से बैठे हुए थे। उस दिन किसी प्रकार उन्हें हिला-डुलाकर उनकी बाह्य चेतना लौटाई गई। तब घर के लोगों को पता चला कि वे प्रतिदिन ध्यान किया करते हैं।

बाद में उन्होंने अपनी पूजा की वेदी पर योगियों के आदर्श त्यागीश्वर शिवजी की स्थापना की। इन उनकी मूर्ति को फूलों से सजाकर उसके समक्ष आँखें मूँदे चुपचाप बैठे रहते। उन्होंने सुना था कि प्राचीन ऋषि-मुनि ईश्वर के ध्यान में इतने तन्मय हो जाते थे कि उनके सिर की जटाएँ वटवृक्ष के जड़ों की भाँति धीरे-धीरे बढ़कर पृथ्वी में समा जाती थीं। अतः वे भी ध्यान करते हुए बीच-बीच में आँखें खोलकर देख लेते कि उनके भी सिर की जटाएँ धरती में प्रविष्ट हुईं या नहीं। ध्यान के समय प्रायः ही उनकी बाह्य चेतना का लोप हो जाता था।

एक दिन कुछ मित्रों के साथ एक कमरे में बैठकर उनका ध्यान का खेल चल रहा था। तभी एक लड़के ने देखा कि कमरे में एक भयंकर विषधर साँप घुस आया है। वह भय से चिल्ला उठा और नरेन को वहीं छोड़ बाकी सभी लड़के कमरे से भाग गये। लेकिन नरेन तब भी बाह्य-चेतना-शून्य ध्यान-मग्न बैठा रहा। साथियों की चीख-पुकार का उसकी ओर से कोई उत्तर नहीं मिला। वे लोग भयभीत होकर घर के बड़ों को बुला लाए। उन लोगों ने जो कुछ देखा, उससे सन्न रह गये – बालक आँखें मूँदे स्थिर बैठा हुआ है और उसके समक्ष वह विषैला साँप अपना भयंकर फन फैलाए डोल रहा है। उन्होंने सोचा कि आवाज करने पर साँप बालक को डँस सकता है, अतः सभी चुपचाप खड़े रहे। थोड़ी देर बाद विषधर सर्प स्वयं ही चला गया। बाद में चेतना लौटने पर नरेन ने सब सुनने के बाद कहा, "मुझे तो कुछ पता ही नहीं चला।"

रायपुर के मार्ग में विशेष अनुभूति

नरेन्द्र के पिता विश्वनाथ दत्त अपने व्यावसायिक कार्यों के सिलसिले में उत्तरी तथा मध्य भारत के कई स्थानों में जाया करते थे। १८७७ ई. में जब चौदह वर्ष के नरेन्द्र मेट्रोपॉलिटन स्कूल के तृतीय वर्ष (आठवीं कक्षा) में पढ़ते थे, उन दिनों उनके पिता को मध्यभारत के रायपुर नगर में कुछ काल रहना पड़ा। बाद में उन्होंने पत्र लिखकर अपने परिवार के लोगों को भी वहीं बुला लिया था। माँ और भाई-बहनों को साथ लेकर रायपुर जाने की यह जिम्मेदारी नरेन्द्रनाथ के ऊपर ही आ पड़ी थी। उन दिनों ट्रेन कलकत्ते से इलाहाबाद और जबलपुर होते हुए नागपुर तक जाती थी। नागपुर से रायपुर तक के सुदीर्घ मार्ग को पूरा करने के लिये लगभग १५ दिन बैलगाड़ी से यात्रा करनी पड़ती थी। नागपुर से रायपुर तक जाने का वह मार्ग घने जंगलों तथा कुछ पहाड़ियों से होकर गुजरता था, जो हिंसक जन्तुओं से परिपूर्ण थे; तथापि मार्ग की शोभा अत्यन्त मनोहारी थी। जंगली पशु कहीं अकेले, तो कहीं टोलियों में निर्भय विचरण कर रहे थे। इस कष्टकर अपितु आनन्ददायी यात्रा का वर्णन करते हुए बाद में नरेन्द्रनाथ ने कहा था –

"वनस्थली का अपूर्व सौन्दर्य को देखकर वह कष्ट मुझे कष्ट ही नहीं प्रतीत हो रहा था। जिन्होंने बिना माँगे ही पृथ्वी को इस अनुपम वेशभूषा से सजा रखा है, उनकी असीम शक्ति और अनन्त प्रेम का पहली बार साक्षात् परिचय पाकर मेरा हृदय मुग्ध हो गया था।... वन के बीच से जाते हुए उस समय मैंने जो कुछ देखा या अनुभव किया, वह सदैव के लिए स्मृतिपटल पर सुदृढ़ रूप से अंकित हो गया है। एक दिन की बात विशेष उल्लेखनीय है। उस दिन हम उन्नत-शिखर विन्ध्य-पर्वतमाला के नीचे के मार्ग से होकर जा रहे थे। रास्ते के दोनों ओर पहाड़ की चोटियाँ मानो आकाश को चूमती हुई खड़ी थीं। फल-फूलों के भार से लदी हुई तरह-तरह की वृक्ष-लताएँ उन पर्वतों को अपूर्व शोभा प्रदान कर रही थीं। रंग-बिरंगे पक्षी अपने मधुर कलरव से सभी दिशाओं को गुंजरित करते हुए कुंजों में घूम रहे थे और कभी-कभी आहार की खोज में भूमि पर उतर रहे थे। इन दृश्यों को देखते हुए मैं मन में अपूर्व शान्ति का बोध कर रहा था। धीर-मन्थर गति से चलती हुई बैलगाड़ियाँ क्रमशः एक ऐसे स्थान पर आ पहुँचीं, जहाँ पहाड़ की दो चोटियाँ मानो प्रेमवश आकृष्ट होकर एक-दूसरे को स्पर्श कर रही थीं। उन पर्वत-शृंगों का विशेष रूप से निरीक्षण करते हुए मैंने देखा कि पासवाले एक पहाड़ में नीचे से लेकर चोटी तक एक बड़ा भारी सुराख है और उस रिक्त स्थान को पूर्ण करते हुए मधु-मक्खियों के दीर्घकालीन परिश्रम के प्रमाण-स्वरूप एक विशालकाय मधुचक्र लटक रहा है। उस समय मेरा मन विस्मय में निमग्न होकर उस मक्षिका-राज्य के आदि तथा अन्त की बात सोचते-सोचते तीनों लोकों के नियन्ता ईश्वर की अनन्त अनुभूति में ऐसा डूब गया कि कुछ काल के लिए मेरी पूरी बाह्य चेतना ही लुप्त हो गयी। इस भाव में तल्लीन होकर मैं कितनी देर तक बैलगाड़ी में पड़ा रहा, मुझे याद नहीं। जब पुनः होश में आया, तो देखा कि हम उस स्थान को छोड़कर काफी दूर निकल आये हैं। बैलगाड़ी में मैं

अकेला ही था, अत: यह बात और कोई नहीं जान सका।''

सारदानन्दजी ने लिखा है, ''प्रबल कल्पना की सहायता से ध्यानराज्य में विचरण करते हुए पूर्णरूप से तन्मय हो जाने का नरेन्द्रनाथ के जीवन में, सम्भवत: यही पहला मौका था।''[५]

ब्राह्मसमाज और ध्यान-प्रवणता में वृद्धि

१८७९ ई. में अपनी आयु के १६ वें वर्ष में रायपुर से कलकत्ते लौटने के बाद नरेन्द्र प्रवेशिका (एंट्रेंस) परीक्षा की तैयारी करने लगे। इन्हीं दिनों उनका ब्राह्मसमाज से परिचय हुआ और वहाँ आना-जाना होने लगा। उन दिनों वे समाज के मतानुसार निराकार सगुण ब्रह्म में विश्वास करते और तदनुसार काफी समय ध्यान करते। विद्यालय में पढ़ते समय ही नरेन्द्र का महर्षि देवेन्द्रनाथ से परिचय हुआ। एक दिन वे अपने कुछ साथियों के साथ महर्षि के समक्ष उपस्थित हुए। महर्षि ने उन लोगों को स्नेहपूर्वक अपने पास बैठाया और कुछ उपदेश दिये। उस दिन उन्होंने नरेन्द्र से कहा था, ''तुम में योगी के सारे लक्षण दीख पड़ते हैं; ध्यान का अभ्यास करने पर तुम शीघ्र ही योगशास्त्र में कथित सारे फल प्राप्त करोगे।'' पर इस निराकार ध्यान के द्वारा भी उन्हें कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ।

श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य में

उनके मन में तब भी ईश्वर तथा उनकी अनुभूति के विषय में शंका बनी हुई थी। श्रीरामकृष्ण से परिचय होने के बाद एक दिन वे दक्षिणेश्वर गये। वहाँ उन्होंने उनसे जो बातचीत की वह उन्हीं के शब्दों में – ''मैंने पूछा, 'महाराज, क्या आप ईश्वर में विश्वास करते हैं?' उन्होंने उत्तर दिया, 'हाँ।' मैंने कहा, 'क्या आप सिद्ध करके दिखा सकते हैं?' उन्होंने उत्तर दिया, 'हाँ।' मैंने कहा, 'कैसे?' उन्होंने उत्तर दिया, 'जैसे मैं तुम्हें यहाँ देख रहा हूँ, वैसे ही मैं ईश्वर को देखता हूँ – बल्कि उससे भी अधिक स्पष्ट रूप से।' इस उत्तर से मेरे मन पर उसी समय बड़ा असर पड़ा, क्योंकि जीवन में पहली बार मुझे एक ऐसा व्यक्ति मिला, जिसने तत्काल कह दिया कि मैंने ईश्वर को देखा है।... मैं प्राय: ही उनके पास जाने लगा।''[६]

ब्रह्मयोनि का दर्शन

नरेन्द्रनाथ की उनसे घनिष्ठता क्रमश: बढ़ती गयी। वे श्रीरामकृष्ण के निर्देशों को सुनते और उनके समक्ष अपनी अनुभूतियों का वर्णन करते। एक दिन उन्होंने बताया कि जब वे ध्यान करने बैठते हैं, तो उनके समक्ष अपने आप ही एक बृहदाकार अद्भुत ज्योतिर्मय त्रिकोण प्रकट होता है और वह त्रिकोण सजीव प्रतीत होता है। इस पर श्रीरामकृष्ण बोले, ''बड़ी अच्छी बात है, तुम्हें ब्रह्मयोनि का दर्शन हो गया; बिल्ववृक्ष के नीचे साधना करते समय मैं भी वैसा ही देखा करता था और मुझे दीखता कि उसमें से प्रतिक्षण असंख्य ब्रह्माण्डों का प्रसव हो रहा है।''[७]

सर्वं ब्रह्ममयं जगत्

वैसे तो श्रीरामकृष्ण अधिकांश जिज्ञासुओं को नारदीय भक्ति का उपदेश दिया करते थे, पर नरेन्द्रनाथ इसके अपवाद थे। नरेन्द्र को वे ज्ञानमार्ग की भी शिक्षा दिया करते थे। एक दिन श्रीरामकृष्ण ने उन्हें जीव तथा ब्रह्म की अभिन्नता विषयक बहुत-सी बातें कहीं। नरेन्द्र ने ध्यान से सुना, परन्तु उन पर विश्वास नहीं कर सके। बाहर निकलकर वे अपने मित्र हाजरा महाशय के पास बैठ गये और उनके साथ बातें करते हुए बोले, ''वाह! यह भी क्या सम्भव है? लोटा ईश्वर, कटोरा ईश्वर और जो कुछ दीख रहा है, वह सब कुछ और हम सब भी ईश्वर हैं?'' इस पर दोनों जोर से हँस पड़े। नरेन्द्र की हँसी सुनकर श्रीरामकृष्ण कमरे से बाहर आये और हँसते हुए नरेन्द्र को छूकर ''तुम लोग क्या कह रहे हो'' – कहते ही समाधिस्थ हो गये। नरेन्द्र के ही शब्दों में, ''उनके उस दिन के अद्भुत स्पर्श से मेरे भीतर क्षण भर में भावान्तर उपस्थित हो गया। मैं स्तम्भित होकर सचमुच ही देखने लगा – ईश्वर के सिवा ब्रह्माण्ड में अन्य कुछ भी नहीं है। वैसा देखकर भी मैं मौन रहा, सोचा – देखूँ, कब तक ऐसा भाव रहता है। परन्तु वह भावावेश उस दिन जरा भी नहीं घटा। घर लौट आया, वहाँ भी वैसा ही – जो कुछ देखा, सब ईश्वर ही प्रतीत होने लगा। खाने बैठा, देखा – अन्न, थाली, परोसनेवाला और मैं भी उनके अतिरिक्त दूसरा नहीं! मैं दो-एक कौर खाकर स्थिर भाव से बैठा रहा। माँ के – 'बैठा क्यों है, खा न' – कहने पर होश लौटने पर मैं फिर खाने लगा। इसी तरह खाते-पीते-सोते-जागते तथा कॉलेज जाते समय वैसा ही दिखायी पड़ने लगा। सारा दिन न जाने कैसे उसी भावावेश में आच्छन्न रहा। रास्ते में चल रहा हूँ, गाड़ियाँ आ रही हैं – देखता हूँ, पर आज इस डर से कि ये अपने ऊपर आ जायेंगी, हट जाने की इच्छा नहीं होती थी। ऐसा लगता था, जो वे हैं, मैं भी तो वही हूँ। हाथ-पैर सुन्न हो जाते थे और खाने से भी तृप्ति नहीं होती थी। ऐसा लगता मानो कोई दूसरा व्यक्ति खा रहा है। खाते-खाते कभी मैं लेट जाता था और कुछ देर के बाद उठकर फिर खाने लगता था। एक दिन इसी तरह बहुत अधिक खा गया, पर उससे हानि कुछ भी नहीं हुई। माँ डरकर कहतीं, 'देखती हूँ, तुझे कोई रोग हो गया है।' कभी कहतीं, 'अब यह नहीं बचेगा।' जब वह आच्छन्न भाव कुछ घट जाता था, तब सारा संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता। हेदुआ तालाब पर टहलते हुए उसके किनारे लोहे के घेरे की छड़ों पर सिर ठोककर देखता कि वे स्वप्न की हैं या सत्य।... इसके बाद जब मैं स्वस्थ

५. लीलाप्रसंग, खण्ड २, पृ. ८०५-०६; तथा युगनायक विवेकानन्द, भाग १, पृ. ५०-१; **६.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. २६०

७. लीलाप्रसंग, खण्ड १, पृ. २२२

हुआ, तो सोचा – यही अद्वैत-ज्ञान का आभास है। तब तो ज्ञात हुआ कि शास्त्र में इस विषय के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह मिथ्या नहीं है। इसके बाद से कभी मुझे अद्वैत -तत्त्व के विषय में सन्देह नहीं हुआ।''[८]

समाधि अवस्था की तीव्र आकांक्षा

नरेन्द्रनाथ ने कॉलेज की पढ़ाई के साथ ही श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य में ध्यान व साधना करते हुए कई वर्ष बिताये। श्रीरामकृष्ण ने अपनी जागतिक लीला के अन्तिम वर्ष के प्राय: आठ माह कलकत्ते के निकट काशीपुर की एक उद्यान-वाटिका में बिताये थे। २ जनवरी (१८८६) को ध्यान करते समय नरेन्द्रनाथ को इड़ा और पिंगला नाड़ियों का स्पष्ट दर्शन तथा कुण्डलिनी-जागरण का आभास हुआ। अगले दिन उन्होंने श्रीरामकृष्ण से आग्रह किया, ''मेरी इच्छा है कि लगातार तीन -चार दिन समाधिलीन रहूँ। बस, कभी-कभी भोजन के लिए उठूँ!'' वे बोले, 'तू तो बड़ा हीनबुद्धि है! उससे भी ऊँची अवस्था है। तू गाता भी तो है – जो कुछ है, सो तू ही है। ... तू घर के लिए कोई व्यवस्था कर के आ। समाधि-लाभ से भी ऊँची अवस्था हो सकेगी।''[९]

नरेन्द्रनाथ बारम्बार श्रीरामकृष्ण से समाधि की अनुभूति के लिये आग्रह करते रहे। एक दिन उन्होंने श्रीरामकृष्ण से कहा था, ''मेरी इच्छा है कि शुकदेव की भाँति लगातार पाँच-छह दिन पूरी तौर से समाधि में डूबा रहूँ, इसके बाद केवल शरीर-रक्षा के लिए थोड़ा-सा नीचे उतरकर फिर समाधि में चला जाऊँ।'' इस पर श्रीरामकृष्ण ने थोड़े तिरस्कार के स्वर में कहा, ''छी छी, तू इतना बड़ा आधार है और तेरे मुख से ऐसी बात! कहाँ तो मैंने सोचा था कि तू एक विशाल वटवृक्ष की भाँति होगा, तेरी छाँव में हजारों लोग आश्रय पाएँगे; और ऐसा न होकर तू केवल अपनी मुक्ति चाहता है! यह तो बड़ी तुच्छ बात है! नहीं नहीं, इतनी छोटी दृष्टि मत रख।... मैं समाधि -अवस्था में ईश्वर की निर्गुण भाव से भी उपलब्धि करता हूँ और फिर विभिन्न मूर्तियों के द्वारा इहलौकिक सम्बन्ध-बोध का भी रस लेता हूँ। एकांगीपना मुझे पसन्द नहीं। तू भी वैसा ही कर – एक साथ ही ज्ञानी और भक्त दोनों बन।''[१०] नरेन्द्र नाथ के नेत्रों से अश्रुपात होने लगा। वे समझ गये कि केवल अपनी मुक्ति की इच्छा करना भी एक तरह की स्वार्थपरता ही है, तथापि श्रीरामकृष्ण की झिड़की सुनकर भी नरेन्द्रनाथ के प्राण निर्विकल्प समाधि के लिए पूर्ववत् ही लालायित रहे।

निर्विकल्प समाधि की अनुभूति

एक दिन संध्या के बाद – उनके कुछ गुरुभाई ठाकुर की सेवा में व्यस्त थे और कुछ अन्य संध्या के क्षीण प्रकाश में प्रकृति की नीरवता के बीच किसी निर्जन स्थान में या किसी वृक्ष के नीचे ध्यान-धारणा में डूबे हुए थे। तभी नरेन्द्रनाथ को उनकी चिराकांक्षित निर्विकल्प समाधि की अवस्था प्राप्त हुई। उनका मन बाह्य जगत् तथा देहबोध से ऊपर उठकर ब्रह्मानन्द -समुद्र में निमग्न हो गया। उस अनुभूति के समय नरेन्द्रनाथ को ऐसा बोध हुआ मानो उनके सिर के पिछले भाग में एक तेजोमय आलोकपुंज प्रज्वलित हो उठा है। देखते-ही-देखते उसकी ज्योति क्रमश: सर्वत्र फैलती हुई मानो चन्द्र, सूर्य, आकाश आदि को दूर कर रही है। उस समय उन्हें सारा संसार आन्दोलित लग रहा था और उनका मन बाह्य जगत् को छोड़ एक अखण्ड ज्योति-सागर में डूबता जा रहा था। देश-काल-पात्र का बोध चला गया, रह गई केवल अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्मसत्ता। बाद में उन्होंने बताया था, ''उस दिन देहादि-बुद्धि का प्राय: लोप हो गया था। 'मैं' प्राय: लय-सा हो गया था। थोड़ा 'अहं' बचा था, इसीलिये उस समाधि-अवस्था से लौट आया था। इस प्रकार समाधि के समय ही 'मैं' और 'ब्रह्म' का भेद नहीं रहता – सब एक हो जाता है: मानो एक महासमुद्र हो – जिसमें जल-ही-जल हो और कुछ नहीं। भाव और भाषा का अन्त हो जाता है।''[११]

स्वामीजी ने अपनी 'प्रलय या गम्भीर समाधि' कविता में अपनी उस दुर्लभ अनुभूति का किंचित् आभास दिया है –

यहाँ सूर्य भी नहीं, ज्योति – तारों की, चारु चन्द्रमा की,
महाकाश में सारा जग-ब्रह्माण्ड भासता
लगता है बस, छाया ही।।
मन के धुँधले नभ में मानो भास रहा ब्रह्माण्ड मलीन;
अहं-स्रोत से प्रकट हुआ सब,
उसमें तिरता और विलीन।।
धीरे-धीरे सब छायाएँ महाप्रलय में हुईं समाप्त,
सतत बहा करता तब केवल
'अहं'-'अहं' का नित्य प्रवाह।।
वह धारा भी बन्द हुई अब, हुआ शून्य में शून्य विलीन,
बचा वही बस एक तत्त्व जो
मन-वाणी के परे-अतीत;
समझेगा बस वही इसे, जिसके प्राणों में बोध हुआ।।

समाधि से उतरने के बाद नरेन्द्रनाथ को ऐसा बोध हो रहा था मानो उनके सिर को छोड़कर अन्य सारे अंग-प्रत्यंग बिल्कुल शून्य में विलीन हो गए हों। उन्होंने उसी कमरे में

८. लीलाप्रसंग, खण्ड २, पृ. ८४६; **९.** युगनायक विवेकानन्द, भाग १, पृ. १५८-५९; श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, खण्ड २, पृ. ११२५; **१०.** स्वामी विवेकानन्द (बँगला), प्रमथनाथ बसु, पंचम सं. पृ. ११०

११. युगनायक विवेकानन्द, भाग १, पृ. १६०; विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ. ९९; आमार जीवनकथा (बँगला), स्वामी अभेदानन्द, सं. २००१, पृ. ९८ तथा चित्र-परिशिष्ट पृ. १५

(शेष अगले पृष्ठ पर)

एक जीवन का रूपान्तरण

डॉ. अल्पना घोष

(प्रस्तुत लेख एक निर्धन तथा असहाय महिला की आपबीती पर आधारित है, जो 'The Geometry Box' शीर्षक से 'प्रबुद्ध भारत' के जुलाई २०१२ के अंक में प्रकाशित हुई थी। इसका हिन्दी अनुवाद इलाहाबाद विश्वविद्यालय की अतिथि प्रवक्ता डॉ. ज्योति सिंह ने किया है। – सं.)

अगस्त २०११ की बात है। एक महिला मेरे घर आयीं और उन्होंने बताया कि किस तरह उनका कठिनाइयों भरा जीवन श्रीमाँ सारदा देवी की कृपा से एक खुशहाल जीवन में बदल गया। मैं सोचती हूँ कि इस सची घटना से कोई भी, कहीं भी लाभान्वित हो सकता है। इसलिये मैंने यह कोशिश की कि उन्हीं महिला के शब्दों में इसे एक लेख के रूप में आपके समक्ष प्रस्तुत करूँ। यह हृदयस्पर्शी घटना इस बात को प्रमाणित करती है कि सच्ची लगन से की गई प्रार्थना किसी के भी जीवन-धारा को बदल सकती है।

ऐसा प्रायः होता है

मेरी माँ ने मेरा नाम रखा था शान्ति। मेरा जन्म राँची के पास ही रप्पा नामक गाँव में एक बहुत ही गरीब आदिवासी परिवार में हुआ था। मेरे पिता एक छोटे-से व्यावसायिक दफ्तर में चपरासी थे। मैं चार सन्तानों में सबसे बड़ी थी। मेरे पिताजी अपनी साइकिल पर बैठाकर मुझे स्कूल छोड़ने जाया करते थे। हमारा छोटा-सा विवेकानन्द मिडिल स्कूल तुपुदाना गाँव के पास ही था और गरीब परिवार के बच्चों के कल्याण के लिये समर्पित था। मैं उस समय इतनी छोटी थी कि अपने पिता की आर्थिक स्थिति को नहीं समझ सकती थी। स्कूल जाते समय मैं पिताजी से पूछा करती थी, मैं उस बड़े स्कूल में क्यों नहीं पढ़ सकती, जहाँ के विद्यार्थी बस से आना-जाना करते हैं। वे समझाते कि स्कूल का बड़ा होना मायने नहीं रखता, बल्कि मेरे लिये वही स्कूल सबसे अच्छा है, जहाँ चरित्र और नैतिक शक्ति का समुचित विकास होता है। उस समय तो मैं उनकी बातों को नहीं समझ पायी, मैं तो केवल उस बड़े स्कूल में जाने को इच्छुक थी, परन्तु अब मैं ईश्वर को धन्यवाद देती हूँ कि मैं उस छोटे, किन्तु 'महान्' स्कूल की विद्यार्थी रही।

समय बीतता गया। मैंने अब बाल्यवास्था से तरुणाई में प्रवेश कर लिया था। मिडिल स्कूल में अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होने के कारण मुझे पूरी छात्रवृत्ति के साथ हाईस्कूल में प्रवेश मिला। सब कुछ मेरे अनुकूल चल रहा था। लेकिन मेरे पिताजी की एक सप्ताह की बीमारी के बाद एक दिन अचानक ही मृत्यु हो गयी और मेरा भरापूरा संसार ध्वंस हो गया। मेरा परिवार पूरी तरह से असहाय हो गया, क्योंकि हम सभी पूरी तौर से पिताजी की आय पर ही निर्भर थे।

पिछले पृष्ठ का शेषांश

ध्यानरत अपने एक गुरुभाई गोपाल से परेशान स्वर में कहा, "मेरा शरीर कहाँ है?" उत्तर मिला, "क्यों नरेन, यहीं तो है! क्या तुम्हें इसका बोध नहीं होता?" गोपाल को भय हुआ कि नरेन की मृत्यु आसन्न है। उन्होंने अन्य गुरुभाइयों को बुला लिया, परन्तु कोई कुछ भी नहीं समझ सका। किंकर्तव्यविमूढ़ गोपाल दादा श्रीरामकृष्ण के कमरे की ओर दौड़े।

वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि ठाकुर शान्त और गम्भीर मुद्रा में बैठे हैं। नीचे के कमरे में हो रही घटना की उन्हें जानकारी थी। गोपाल का विवरण सुनने के बाद वे बोले, "ठीक है, उसे थोड़ी देर उसी अवस्था में रहने दो। इसी के लिये तो वह मुझे काफी काल से तंग कर रहा था।"[११]

धीरे-धीरे उनका मन सामान्य भूमि पर लौट आया। उस समय उनका चित्त एक अवर्णनीय शान्ति तथा आनन्द से परिपूर्ण था। वे श्रीरामकृष्ण के कमरे की ओर चल पड़े। सीढ़ियाँ चढ़ते हुए भी उन्हें ऐसा लगता था मानो उनके पाँव उठ ही न रहे हों। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें देखकर कहा, "क्यों, आज तो माँ ने तुझे सब कुछ दिखा दिया न! परन्तु चाभी मेरे हाथ में रहेगी। अभी तुम्हें जगदम्बा का बहुत-सा कार्य करना होगा। कार्य समाप्त हो जाने पर ताला पुनः खुल जायगा और इसी अनुभूति के समान तुझे पुनः सब कुछ ज्ञात हो जायगा।"

इसके बाद भी आजीवन वे समाधि में डूबे रहने की आकांक्षा से अभिभूत रहे। बाह्य जगत् के प्रति उन्हें जरा भी लगाव न था। ईश्वर ने उनके जन्म के पूर्व ही उन्हें जगत् में अपने आध्यात्मिक मुक्तिदान के कार्य में सहायक होने के लिये चुन लिया था। इसीलिये उन्हें बीच-बीच में ऐसा प्रतीत होता कि उनका जीवन निर्जन में साधना के लिये नहीं, अपितु मानवता के कल्याण-कार्य में नियोजित होने वाला है। जब-जब उन्होंने समाधि का आनन्द लेने की इच्छा की – अज्ञान तथा निर्धनता से पीड़ित करोड़ों भारतवासियों का आर्तनाद उनके कानों में गूँजने लगता। उनके मन में प्रश्न उठता कि क्या वे इसी प्रकार पशुवत् जीवन बिताते रहेंगे? कौन इन्हें इनकी दुरवस्था से उबारेगा? कौन इन्हें मुक्ति प्रदान करेगा? अब वे अपने इस विराट् जीवनोद्देश्य को लेकर भारतवर्ष का सर्वांगीण तथा गहन अध्ययन करने निकल पड़े। ❑❑❑

११. विवेकानन्द : एक जीवनी, स्वामी निखिलानन्द, प्र. सं., पृ. ६७

अच्छे और बुरे समय के आने-जाने से किसी का भी जीवन नहीं रुकता और धीरे-धीरे हम इस सदमे से उबर गये और अपने पाँच सदस्यों के परिवार को चलाने के लिए नए रास्ते तलाशने लगे। मेरी माँ नहीं चाहती थी कि मैं अपनी पढ़ाई छोड़ूँ। वे इस विषय में दूरदृष्टि रखती थीं। उन्होंने सिलाई करके कुछ पैसे अर्जित करना शुरू किया और अपने उन छोटे भाई-बहनों के साथ मैं अपनी पढ़ाई सुचारू रूप से चलाने लगी, जो विवेकानन्द मिडिल स्कूल में ही पढ़ते थे और उन्हें भी गरीबी के आधार पर पूर्ण छात्रवृत्ति मिलती थी।

मैं स्कूल की बोर्ड परीक्षा में अच्छे अंकों के साथ पास हो गई। वह मेरे परिवार के लिये एक महान् तथा खुशी का दिन था। यह समाचार सुनकर मेरे पिताजी के मित्र ने मुझे अपने छोटे-से ऑफिस में काम करने का प्रस्ताव दिया। मुझे वहाँ हिसाब-किताब रखने का काम दिया गया और इस तरह हमारे परिवार की स्थिति में थोड़ा-सा सुधार हुआ। मैं तब तक अठारह वर्ष की हो गई थी।

मैं अपनी स्कूल की किताबें और विशेषकर ज्योमेट्री बॉक्स को मूल्यवान धरोहर के रूप में सँजोकर रखती थी। मैं अच्छी तरह जानती थी कि मेरी पढ़ाई शीघ्र ही बन्द होने वाली है, जबकि मैं उच्च शिक्षा का स्वप्न देखती आ रही थी, इसीलिये मैंने अपनी किताबें और मेरे प्रिय ज्योमेट्री बॉक्स का त्याग नहीं किया था। क्योंकि रेखागणित (ज्योमेट्री) और गणित मेरे प्रिय विषय थे।

अगले वर्ष मेरी माँ मेरी शादी के लिये लड़का ढूँढ़ने लगी। मेरे विरोध करने पर उन्होंने समझाया कि मुझे शादी करके अपने जीवन को व्यवस्थित कर लेना चाहिए, यही मेरे लिये उत्तम होगा। जब मैं केवल बीस वर्ष की थी, तभी मेरी शादी अनिल नाम के एक लड़के से हो गई। वे अच्छे तनख्वाह पर एक निजी कम्पनी में काम करते थे। उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि अच्छी थी। हमने अपनी नई जिन्दगी किराये के मकान से शुरू की। अगले वर्ष मेरे बेटे अजय का जन्म हुआ। अब मेरे सामने यह समस्या खड़ी हो गई कि मैं अपने घर और अपनी नौकरी को एक साथ कैसे व्यवस्थित करूँ। अनिल ने मुझे नौकरी छोड़ने का आग्रह किया, ताकि मैं बच्चे की अच्छी तरह देखभाल कर सकूँ। इसलिये मैंने शीघ्र ही नौकरी छोड़ दी। अपने सुखी परिवार के कारण संसार मुझे बहुत ही सुखद प्रतीत होता। लेकिन, तब मैं नहीं जानती थी कि मेरे भाग्य में आगे क्या लिखा हुआ है !

लगभग छह महीने के बाद एक रात अनिल ऑफिस से बड़ी देरी करके लौटे। वे पूरी तरह नशे में डूबे हुए थे। मैंने उनसे इसका कारण पूछा, तो उन्होंने बहुत ही रूखे स्वर में उत्तर दिया – ''मेरे मामले में टाँग मत अड़ाओ।'' मैं हक्की-बक्की रह गयी। मुझे बड़ा दुख हुआ, क्योंकि उन्होंने कभी भी मेरे साथ इस तरह का व्यवहार नहीं किया था। मैं रात भर नहीं सो सकी, लेकिन वे जल्दी ही सो गए।

सुबह वे बिल्कुल सामान्य थे, किन्तु तत्काल मैंने उस बात को उठाना ठीक नहीं समझा। लेकिन अगली रात वह फिर नशे में डूबे हुए आये। यह उनकी दिनचर्या ही बन गयी। यदि कभी मैं साहस करके विरोध करती, तो वे मुझ पर चिल्लाने लगते। कभी-कभी तो हाथ भी उठा देते। हम लोगों की आपसी बातचीत प्राय: बन्द हो गयी। मैं निरन्तर बहुत ही उद्विग्नता में अपने घर के काम-काज करती। अधिकांश समय मेरी आँखें आँसुओं से भीगी रहतीं। पल भर में ही मेरा पारिवारिक जीवन नरक बन गया। पुत्र अजय ही अब मेरे जीने का एकमात्र सहारा था।

आशा की किरण

क्या करूँ? कहा से रास्ता निकालूँ? किससे अपनी समस्याएँ कहूँ? मैं केवल अपने दुर्भाग्य को कोसने लगी। मैंने माँ और ससुराल वालों से भी कुछ नहीं कहा, क्योंकि मैं उन्हें परेशान नहीं करना चाहती थी। ऐसे में मेरे सामने अपनी समस्याओं के समाधान के लिए कोई रास्ता नहीं दिखाई दे रहा था। दिन ऐसे ही बीतते गए। अनिल की पीने की आदत बढ़ती गई और वे बीच-बीच में अपने दफ्तर से अनुपस्थित भी रहने लगे, जिसके कारण उनकी तनख्वाह कटने लगी थी, इससे मेरे सामने घर को चलाने में और भी बड़ी समस्या बढ़ती गई। ऐसा लग रहा था, जैसे अँधेरे ने हमें चारों ओर से घेर लिया है। इससे निकलने का कोई मार्ग नहीं दीख रहा था। हर रात एक ही कहानी चलती रही।

एक दिन मैं अपने दैनिक कार्यों के बाद मेज के पास उदास बैठी अपने दुर्भाग्य के बारे में सोचने लगी कि कैसे एक सुखी परिवार, केवल एक गलत आदत के कारण नष्ट हो गया। मैं रोने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकती थी। अचानक मेरी दृष्टि मेज पर रखे ज्योमेट्री बॉक्स पर पड़ी। उसमें रखा पेन्सिल, कम्पास, एंगल्स और स्केल मेरी आँखों के नजरों से होकर गुजरे। मैं उन चीजों की ओर देख रही थी और अपने मधुर विद्यार्थी जीवन के बारे में सोच रही थी, तभी सहसा मेरी दृष्टि बॉक्स के ढक्कन पर पड़ी, जहाँ श्रीमाँ सारदा देवी का एक चित्र लगा हुआ था, जो मुझे स्कूल से मिला था। मैं कुछ देर उस फोटो को देखती रही और तभी सहसा अध्यापक द्वारा कहे गये ये शब्द याद आ गये – ''माँ सारदा देवी कोई सामान्य महिला नहीं हैं। वे सबकी सच्ची माँ हैं। वे धनी-गरीब सबका समान रूप से पालन करती हैं। वे सभी की प्रार्थनाएँ सुनती हैं।'' तत्काल मेरी अन्तरात्मा में आशा की एक किरण कौंध गई और मुझे लगा कि श्रीमाँ निश्चित रूप से

मेरी सहायता करेंगी। मैं प्रतिदिन सुबह-शाम उनसे प्रार्थना करने लगी। यद्यपि उन दिनों अनिल में कोई बदलाव नहीं आया, तो भी मैं प्रार्थना करती रही। मैं माँ से कहती कि वे मुझे इस परिस्थिति से उबरने की शक्ति दें।

हमारी आर्थिक स्थिति इतनी बिगड़ी कि मैंने एक नौकरी ढूँढ़ने का निश्चय किया। निराश मन से मैंने अपने बेटे को साथ लिया और सीधे अपने 'विवेकानन्द मिडिल स्कूल' जा पहुँची। मैं यह सोचकर गई कि स्कूल द्वारा दिया गया कोई भी कार्य करूँगी, चाहे वह कक्षाओं में झाड़ने-पोछने का काम ही क्यों न हो और मेरा बेटा भी मेरे साथ रहेगा। स्कूल में मैं प्रधानाध्यापिका से मिली, उन्होंने मुझे पहचान लिया और बड़ी मधुरता के साथ मेरे व्यक्तिगत जीवन के बारे में पूछा। उनके विनम्र व्यवहार से मैं द्रवीभूत हो गई और अपनी गहरी पीड़ा को बिना-छिपाये उन्हें सब कुछ बता दिया। उन्होंने यह कहकर मुझे सांत्वना दी – "यह तुम्हारे जीवन की परिवर्तनशील अवस्था है, शीघ्र बीत जायेगी। सम्भवत: श्रीरामकृष्ण तुम्हें लोगों की सेवा का एक अवसर देना चाहते हैं।"

मैंने धीरे से पूछा, "क्या मुझे स्कूल में सफाई का कार्य मिल सकता है?" मेरा अनुरोध सुनकर उन्हें झटका-सा लगा। उन्होंने पूछा – "क्यों, दसवीं पास होकर भी, तुम इस तरह का काम क्यों करना चाहती हो?" वे कुछ देर सोचती रहीं, फिर सहसा उनके मुख से निकला, "तुम नर्सरी की कक्षा में पढ़ा सकती हो, पर इस समय कोई जगह खाली नहीं है।" उन्होंने कुछ सोचने के बाद वादा किया कि वे मेरे लिए किसी उपयुक्त कार्य की तलाश करेंगी। मेरे विदा लेते समय उन्होंने मुझसे पूछा – "क्या तुम स्कूल में आयोजित होनेवाले एक कार्यक्रम में आना पसन्द करोगी? उसमें कुछ संन्यासी लोग बच्चों का पथ-प्रदर्शन करने के लिये आयेंगे। सम्भव हुआ, तो अपने पति को भी साथ लाना, तुम्हें अच्छा लगेगा।"

ऐसा लगा जैसे मेरी निराशा भरी जिन्दगी में एक दिन के लिये ही सही, कुछ राहत तो होगी। यद्यपि मैं अपने पति के बारे में निश्चित नहीं कह सकी, लेकिन मैंने पूरे दिल से अपनी सहमति दे दी।

स्कूल उत्सव के एक दिन पहले अनिल बहुत शान्त दिखे, मैंने उन्हें साथ चलने के लिए कहा। अपने स्वभाव के अनुसार उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया। लेकिन अगले दिन सुबह माँ सारदा से अपनी प्रार्थना करने के बाद, मैं अनिल के पास चाय लेकर गई। मेरे कुछ कहने से पहले ही उन्होंने मुझे आश्चर्यचकित करते हुए कहा, "आज मैं ऑफिस नहीं जाऊँगा, मैं तुम्हारे स्कूल के उत्सव में शामिल होऊँगा। तुम अपने जिस स्कूल की इतनी प्रशंसा करती हो, आज मैं उसे देखना चाहता हूँ। मेरा हृदय आनन्द से उछल पड़ा। मैंने घर का काम पूरा करके अपने पुत्र को तैयार किया। बहुत दिनों के बाद आज हम तीनों – पूरा परिवार एक साथ बाहर जा रहे थे।

हम स्कूल पहुँचे, जो बहुत ही अच्छी तरह से सजाया गया था और विद्यार्थी लोग अतिथियों का स्वागत कर रहे थे। मैं बड़े उत्साहपूर्वक अनिल को अपनी कक्षायें, अपने खेलने का मैदान और वह पेड़ जिसके नीचे बैठकर हम सारे मित्रों के साथ खाना खाया करते थे, दिखा रही थी। अनिल को स्कूल बहुत पसन्द आया। फिर हम लोग प्रधानाध्यापिका से मिले, जो हमें देखकर बहुत प्रसन्न थीं। हम लगभग पीछे की सीट पर जाकर बैठ गये।

कुछ समय के बाद चार संन्यासी स्कूल परिसर के अन्दर प्रविष्ट हुए। विद्यार्थियों ने आदिवासी-नृत्य और गीत के साथ उनका स्वागत किया। फिर एक वरिष्ठ संन्यासी का व्याख्यान हुआ। बहुत सारी बातों के साथ उन्होंने कहा, "विद्यार्थी जीवन चरित्र-निर्माण का समय है। जब तक किसी भी विद्यार्थी का व्यवहार और चरित्र अच्छा नहीं होगा, तब तक उन्हें कोई भी अच्छा विद्यार्थी नहीं मान सकता। अच्छा विद्यार्थी वह है, जो साहस के साथ किसी भी समस्या का सामना कर सके।" फिर उन्होंने स्वामी विवेकानन्द का वह प्रसिद्ध वाक्य बताया – "शक्ति ही जीवन है, दुर्बलता ही मृत्यु।" और फिर उनका दूसरा सन्देश – "एक विचार ले लो, उसी एक विचार के अनुसार अपने जीवन को बनाओ, उसी को सोचो, उसी का स्वप्न देखो और उसी पर अवलम्बित रहो। अपने मस्तिष्क, मांसपेशियों स्नायुओं और शरीर के प्रत्येक भाग को उसी विचार से ओत-प्रोत होने दो और दूसरे सब विचारों को अपने से दूर हटा दो। यही सफलता का मार्ग है।" मैं मंत्रमुग्ध होकर उन प्रेरक वचनों को सुनती रही, फिर बड़ी सावधानी से अनिल की तरफ देखा, वे बहुत ही गौर से सारी बातें सुन रहे थे।

अचानक उन संन्यासी ने मानो अभिभावकों को सम्बोधित करते हुए और स्वामीजी के विचारों को उद्धृत करते हुए कहा – "यहाँ बहुत से विद्यार्थियों के माता-पिता हमारी उम्र के हैं। मन के भीतर ही पवित्रता का अनुभव किया जा सकता है। मनुष्य के अपने मन में दोष हुये बिना, वह दूसरों के दोष नहीं देख सकता। हम वह हैं, जो हमारा विचार हमें बनाता है। इसलिये सावधान होकर देखिये कि आप क्या सोचते हैं! शब्द तो बाद में आते हैं, विचार देर तक रहता है वह बहुत दूर तक जाता है।" उन्होंने आगे कहा – "यह कभी मत भूलिये कि ईश्वर ने आपको यह जीवन अपने परिवार और समाज की सेवा के लिये दिया है। जो लोग अपने परिवार की देखभाल नहीं करते और न अपने परिवार और समाज की सेवा करते हैं, ऐसे लोग

ईश्वर की सेवा भी नहीं करते।'' वे और भी बोले – ''केवल वे ही जीवित हैं, जो दूसरों के लिये जीते हैं, शेष जीवित होकर भी मरे हुए के समान हैं। हम जो कुछ हैं और जो कुछ भी हम अपने आपको बनाना चाहते हैं, उसके लिये उत्तरदायी भी हम ही हैं। हमारे पास अपने आपको निर्मित करने की क्षमता हैं, इस समय हम जो कुछ भी हैं, वह हमारे पूर्व कर्मों का परिणाम है। निश्चित रूप से इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हम भविष्य में जो कुछ भी बनना चाहते हैं, उसे हम अपने वर्तमान कर्मों से सम्पन्न कर सकते हैं। अत: हमें कैसे कर्म करना है, यह सीखना होगा। हमेशा याद रखो कि जब कभी समस्यायें तुम्हें घेर लें, संसार तुम्हारी उपेक्षा करे, उस समय ईश्वर तुम्हारी सहायता करेंगे।''

मैंने ऐसा अनुभव किया। मानो ये सारी बातें मेरे सन्दर्भ में कही गयी हों। मैंने अनिल की ओर देखा, लेकिन उनके चेहरे पर कोई भाव नहीं था। अत: मैं यह समझ नहीं सकी कि उनके मन में क्या चल रहा है। कार्यक्रम के अन्त में विद्यार्थियों ने एक भजन गाया।

वे मुस्कुराती-सी लगीं

वह मेरे लिये एक मधुर संध्या थी, लेकिन अनिल कुछ परेशान दिखाई दिये। मैंने उनसे कारण पूछा, पर उन्होंने कुछ नहीं बताया। वे विचार में डूबे हुए हमारी खाट के एक किनारे की तरफ जाकर बैठ गये। मैंने कुछ और नहीं कहा।

अगले दिन सुबह मैं रोज की तरह अपने घर के काम कर रही थी। मैंने देखा कि अनिल ऑफिस के लिये तैयार हो रहे हैं। मुझे अच्छा लगा। मैंने उन्हें नाश्ता और दोपहर का भोजन दिया। अनिल ऑफिस चले गये और अजय खेलकूद में लगा हुआ था। इससे मुझे प्रार्थना करने के लिए कुछ समय मिल गया। उससे पहले मैंने माँ सारदा का चित्र देखने के लिये ज्योमेट्री बॉक्स खोला। उसमें मुझे एक मुड़ा हुआ कागज का टुकड़ा रखा हुआ मिला। वह एक पत्र था, जिसे अनिल ने मेरे लिए लिखा था – ''प्रिय शान्ति, तुम्हें बहुत धन्यवाद देता हूँ कि तुम मुझे अपने स्कूल में ले गई, जहाँ मुझे उन सारी बातों को सुनने का अवसर मिला, जिससे मेरी आँखें खुल गईं। मैंने स्वयं सुख पाने के लिये अपने परिवार पर बहुत अत्याचार किया है। एक शाम मेरा एक मित्र अपनी पदोन्नति की खुशी में मुझे मदिरालय ले गया और मुझसे पीने का आग्रह किया। पहले तो मैंने स्वीकार नहीं किया, लेकिन उसने कहा, एक दिन से कुछ नहीं होगा। इसलिये मैंने थोड़ी-सी पी ली, यही मेरे जीवन की सबसे बड़ी भूल थी। इसके बाद हर शाम मेरा मित्र मुझे उसी जगह ले जाता और फिर मैं उसके द्वारा दिए गए प्रलोभन को दृढ़तापूर्वक मना भी नहीं कर पाता था। इस तरह यह मेरी आदत बन गयी। मैं तुम्हारी पीड़ा को देखा करता था। प्रत्येक रात मैं स्वयं से वादा करता कि उससे मित्रता तोड़ लूँगा, लेकिन फिर शाम को मैं उसके आग्रह के सामने कमजोर पड़ जाता। धीरे-धीरे मेरी पीने की आदत बढ़ती गई और मैं तुम सबको उपेक्षित करने लगा। इसके बावजूद भी तुमने धैर्य और शान्ति बनाए रखा, लेकिन मैं अपने आपको बदल नहीं सका। कल मैंने तुम्हारे स्कूल में जो बातें सुनी, उन बातों ने मुझे अन्दर तक हिलाकर रख दिया, 'जो लोग अपने परिवार की देखरेख नहीं कर रहे हैं, वे ईश्वर और समाज की सेवा नहीं कर रहे हैं।' पूरी रात वही शब्द मेरे अन्दर गूँजते रहे। मैंने अजय के निश्छल और भोले-भाले चेहरे की ओर देखा, जिसके प्रति अपने कर्तव्य की मैंने इतनी उपेक्षा की है। मैंने निश्चय किया है कि मैं अपनी यह आदत छोड़ दूँगा और अपने परिवार की देखभाल करूँगा। तुम और अजय मेरे अपने हो और तुम लोगों की ठीक-ठाक सेवा करने से ही मुझे ईश्वर का आशीर्वाद मिलेगा। मैं तुमसे वादा करता हूँ, मैं वही पुराना अनिल बनूँगा, जैसा मैं विवाह के समय था। कृपया मुझे क्षमा कर दो। मैं जानता हूँ कि तुम प्रतिदिन श्रीमाँ सारदा देवी से प्रार्थना करती हो, कृपया उनसे कहना कि वह मुझ पर भी कृपा करें। तुम्हारा ही, अनिल।''

पत्र को पढ़कर मेरे मन में जो भाव उमड़े, उन्हें लिखने की जरूरत नहीं है। आँसू भरे नेत्रों के साथ जब मैंने अपने ज्योमेट्री बॉक्स में लगे श्रीमाँ की चित्र की ओर देखा, तो लगा मानो वे मुस्कुरा रही हों। उस दिन से अनिल पहले के समान ही हम लोगों से प्रेम और हमारी देखभाल करने लगे।

इस घटना के बाद से मैंने निश्चय किया कि मैं अपने पड़ोस में रहने वाली और ऐसी ही समस्याओं का सामना कर रही महिलाओं की सहायता करूँगी। मैं उनके पास जाने लगी और उनसे धैर्यपूर्वक प्रार्थना करने को कहने लगी कि सच्चे मन से की गई प्रार्थना का फल अवश्य मिलता है। मैं हमेशा उन्हें अपनी कहानी सुनाती हूँ और यथासम्भव उन्हें सान्त्वना देने की कोशिश करती हूँ। अब अजय बड़ा होकर स्कूल जाने लगा है, इसलिये मुझे पड़ोसियों की विपत्ति में जाकर सहायता करने का और भी समय मिलने लगा है। मैं उन्हें माँ के जीवन-चरित, उनका धैर्य और सहनशीलता, सान्त्वनादायी उपदेश सुनाती हूँ। हमने मित्रों का एक समूह बना लिया है। प्रत्येक शनिवार की शाम को हम सब एकत्रित होकर श्रीमाँ के बारे में पढ़ते और चर्चा करते हैं। अपनी घरेलू समस्याओं को बताने के लिये मित्रों ने मुझे अपने घर बुलाना शुरू कर दिया और प्यार से मुझे 'मधु-वाणी' का नाम दे दिया है। लेकिन मैं तो केवल एक सीधी-साधी आदिवासी महिला हूँ, जिसके पास केवल दो कहानियाँ हैं – एक मेरी अपनी और दूसरी श्रीमाँ सारदा की। ❑❑❑

माँ की कृपा प्राप्ति

प्रकाश चन्द्र चक्रवर्ती

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

१९११ ई. में मैं पढ़ने के लिये पूर्वबंग के (वर्तमान में बाँग्ला देश) नोआखाली जिले के चण्डीपुर ग्राम से शहर में आकर रहने लगा। उस समय मैं आठवीं कक्षा में पढ़ता था। एक दिन सुबह मेरे घर के पास के सड़क से एक भजन गाते हुए एक जुलूस चला जा रहा था। भजन तथा स्तोत्रों के प्रति मेरा सदैव से आकर्षण रहा है। जुलूस देखकर और भजन सुनकर मैं आकृष्ट हुआ। भजन था – "चिन्तय मम मानस, हरि चिद्घन निरंजन।" मैं भी उस जुलूस में लोगों के साथ कब चलने लगा, पता ही नहीं चला। चलते-चलते जुलूस नोआखाली टाउन के पूर्वांचल में 'काली-तारा' मुहल्ले के एक उद्यानभवन में ठहरा। वहाँ जाकर देखा कि भगवान रामकृष्ण देव का जन्मदिन मनाया जा रहा है। ठाकुर का एक बड़ा चित्र फूलमालाओं द्वारा बड़े सुन्दर ढंग से सजाया गया है।

मैं पूरे दिन उस उद्यान-भवन में बैठा रहा। भजन, पाठ, चर्चाएँ आदि सुनी और उसके बाद प्रसाद पाया। तभी मैंने पहली बार ठाकुर का चित्र देखा था। उसी दिन से मेरे मन में ठाकुर, श्रीमाँ और स्वामीजी के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति का जन्म हुआ।

एक बार छुट्टियों में गाँव जाकर देखा कि यदु मजुमदार (स्वामी शिवानन्दजी के शिष्य) और एक अन्य शिक्षक ने मिलकर वहाँ एक आश्रम शुरू किया है। शाम के समय उस आश्रम में बहुत-से स्कूली लड़के आते। उनमें से कई मेरे पुराने मित्र थे। वहाँ भजन आदि होते, जिनमें मैं भी भाग लेता। आश्रम की आर्थिक दशा बड़ी खराब थी और ग्रन्थालय की हालत भी दयनीय थी। निर्धन ग्रामिणों से आश्रम के लिये चन्दा एकत्र करना बड़ा कठिन कार्य था। अत: हममें से जो अल्पवयस्क थे, वे इधर-उधर पटसन बोकर उसकी आय आश्रम को दान कर देते। हम लोगों ने ही आश्रम में तालाब खोदने का काम भी किया था। गर्मी के दिन में वह काम दुष्कर था, अत: रात में जागकर यह काम किया गया था। नये आश्रम की प्राण-प्रतिष्ठा हुई। ठाकुर के कृपा के बिना यह कठिन कार्य होना असम्भव था। उन्होंने अपना काम स्वयं ही करा लिया है। इस आश्रम में माँ के दीक्षित मेरे एक पुराने मित्र निशि गुहा थे। उन्हें देखकर मेरे मन में भी माँ से दीक्षा लेने की प्रबल इच्छा जागी! उन्होंने मुझे उत्साहित किया पर मैंने मन-ही-मन सोचा – न जाने कब यह इच्छा पूर्ण होगी!

१९१६ ई. में मैट्रिक पास करके मैं आई. ए. पढ़ने के लिये बरिशाल के कॉलेज में गया। वहाँ एक दिन देखा कि स्वामीजी के शिष्य पूज्यपाद ज्ञान महाराज के नेतृत्व में मठ से कई साधु आये हुए हैं। शाम को वहाँ पर भक्त- समागम होता था। बहुत लोगों से परिचय हुआ। क्रमश: पता चला कि उनमें कोई माँ से दीक्षित है, तो कोई स्वामी शिवानन्द के अर्थात् महापुरुष महाराज से दीक्षित हैं। और भी पता चला कि बी.एम. स्कूल के प्रधान शिक्षक ने वहाँ श्रीरामकृष्ण आश्रम की स्थापना की है। वे अविवाहित थे और ठाकुर के परम भक्त थे। प्राय: हर रविवार को मैं वहाँ पाठ, भजन आदि सुनने जाता। इन सब के फलस्वरूप मैं ठाकुर के प्रति और भी अधिक आकर्षण अनुभव करने लगा। ज्ञान महाराज जब तक वहाँ थे, लड़कों को भजन गाने को कहते। एक दिन मुझसे भी बोले, "तुम गा सकते हो?" मैंने कहा, "उतना अच्छा तो नहीं गा सकता, फिर भी गाता हूँ।" गाया – "चरण-युगल दो माँ, मुझको, चरण-युगल दो माँ!"

भजन सुनकर वे बड़े खुश हुए। इस बरिशाल-निवास के दौरान ही निशी गुहा के कहने पर मैंने महापुरुष महाराज के साथ पत्र-व्यवहार किया। माँ से दीक्षा लेने के बारे में उन्होंने खूब उत्साह और आश्वासन दिया था। १९१८ ई. में आई. ए. की परीक्षा देकर कलकत्ता जाने का सुयोग मिला। वहाँ पहुँचकर ठाकुर के विभिन्न आश्रमों तथा बेलूड़ मठ का दर्शन करके एक दिन माँ के घर (१ नं. मुखर्जी लेन, बाद में जिसका नाम 'उद्बोधन' हुआ) गया। वहाँ पूजनीय शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) थे। उन्हें 'माँ का द्वारपाल' कहा जाता था। माँ का दर्शन करने के लिये पहले उनकी अनुमति लेनी पड़ती थी। उन्हें प्रणाम कर मैंने अपनी इच्छा बतायी। वे बोले, "तुम बहुत दूर से आये हो, पर माँ अस्वस्थ हैं। मलेरिया से अभी अभी उठी हैं। अभी भी उनकी चिकित्सा हो रही है। किसी को दीक्षा देना तो दूर की बात, दर्शन तक नहीं

करने देता। तुम पत्र व्यवहार करते रहो। माँ के स्वस्थ होने पर मैं तुम्हें बताऊँगा।''

वहाँ माँ के निष्ठावान सेवक रासबिहारी महाराज (स्वामी अरूपानन्द) उपस्थित थे। वे बोले, ''तुम मेरे साथ भी पत्र-व्यवहार करते रहना। माँ के स्वस्थ होने पर मैं तुम्हें खबर दूँगा।'' यह कहकर उन्होंने बहुत उत्साहित किया। उसके बाद मैं बारिशाल लौट आया। इसी वर्ष सम्भवत: दुर्गापूजा के कुछ पहले मुझे रासबिहारी महाराज का पत्र मिला। उन्होंने आने की अनुमति दी थी। कॉलेज में छुट्टी होने के साथ मैं कलकत्ते के लिये रवाना हुआ। सियालदह स्टेशन पर उतरकर मैं पैदल ही माँ के घर जा पहुँचा, क्योंकि कलकत्ते के रास्ते मेरे लिए बिल्कुल अनजाने थे। सवारी के नाम पर केवल ट्राम और घोड़ागाड़ी चलती थी। पहुँचते रात हो गयी। भोजन करके माँ के घर पर ही सो गया। अगले दिन सुबह पूज्य रासबिहारी महाराज मुझे ऊपर ले गये। माँ के चरण स्पर्श कर मैंने अपनी इच्छा बतायी। माँ ने पूछा, ''तुम्हारा घर कहाँ है?''

मैंने कहा, ''मेरा घर पूर्वी बंगाल के नोआखाली जिले में है। बारिशाल के कॉलेज में पढ़ता हूँ।''

माँ ने कहा, ''इतनी दूर से आये हो? क्या तुम लोगों के कुलगुरु नहीं हैं?''

मैंने कहा, ''हाँ माँ, कुलगुरु हैं। तो भी मेरे प्राणों की आकांक्षा है कि मैं आपसे ही दीक्षा लूँ।''

माँ ने पूछा, ''क्या तुम लोग शाक्त हो?''

मैंने कहा, ''हाँ माँ, हम लोग शाक्त हैं।''

माँ ने कहा, ''जाओ, गंगास्नान करके आओ। मैं ठाकुर-पूजा पूरा कर लूँ।''

मैं गंगास्नान करके रासबिहारी महाराज के साथ फूल आदि दीक्षा की चीजें, खरीद कर ऊपर माँ के पास गया। देखा – माँ एक आसन पर बैठी हैं और सामने एक अन्य आसन बिछा है। मैंने ठाकुर को प्रणाम किया और माँ को प्रणाम करने के बाद निर्दिष्ट आसन पर बैठ गया। उन्होंने मुझे दीक्षा दी और मेरे इहलोक तथा परलोक का सारा भार ग्रहण किया। मुझे उनके श्रीचरणों में आश्रय मिला। पूर्वजन्म की अनेक सुकृतियों के फलस्वरूप मेरी यह मनोकामना पूर्ण हुई। उसके बाद माँ से बहुत-सी बातें हुई और मैंने अपने हृदय की कुछ बातें उन्हें बतायी। माँ ने कहा, ''ठाकुर ही सब हैं, वे ही सब हैं, उन्हीं को पुकारना, उन्हीं से प्रार्थना करना। चिन्ता की कोई बात नहीं।'' उसके बाद मैं नीचे चला आया। नियमानुसार पुरुष-भक्तों को नीचे और स्त्री-भक्तों को ऊपर प्रसाद दिया जाता था। माँ ने स्त्री-भक्तों के साथ भोजन करते समय मुझे प्रसाद भिजवाया और कहला भेजा, ''जो नया लड़का आज यहाँ आया है और दीक्षा ली है, उसे दे देना।'' प्रसाद पाकर मैं कृतार्थ हो गया। केवल इतना ही नहीं, माँ का परम करुणामय रूप तथा परम स्नेहपूर्ण कण्ठ ने प्रथम दर्शन के समय से ही मेरे हृदय तल को छू लिया था। यह मानो विश्वप्लावी स्नेह-प्रेम की अमृतधारा में डुबकी लगाना था। दीक्षा के बाद मैंने परम परितृप्ति का अनुभव किया। परवर्ती काल में मैं पत्र लिखकर माँ को अपने मन का भाव बताता। उत्तर में माँ मुझे 'बेटा जीवन' के रूप में सम्बोधित करतीं।

इन अपार करुणामयी विश्वजननी माँ की कृपा प्राप्त करना, मानो पारसमणि के स्पर्श से स्वर्ण हो जाना था। जो जगज्जनी महामाया – सृष्टि, स्थिति, प्रलयकारिणी महाशक्ति हैं – वे ही माँ सारदा के रूप में देह धारण कर इस जगत् में आयी हैं। उनकी कृपा से मानव-जीवन धन्य हो जाता है।

❑ ❑ ❑

ईश्वर को चाहो, वे अवश्य मिलेंगे

छोटा बच्चा घर में अकेले ही बैठे-बैठे खिलौने लेकर मनमाने खेल खेलता रहता है, उसके मन में कोई भय या चिन्ता नहीं होती। किन्तु ज्योंही उसकी माँ वहाँ आ जाती है त्योंही वह सारे खिलौने छोड़कर 'माँ, माँ' कहते हुए उसकी ओर दौड़ जाता है। तुम लोग भी इस समय धन-मान-यश के खिलौने लेकर संसार में निश्चिन्त होकर सुख से खेल रहे हो, कोई भय या चिन्ता नहीं है। पर यदि तुम एक बार भी उस आनन्दमयी माँ को देख पाओ तो फिर तुम्हें धन-मान-यश अच्छे नहीं लगेंगे, तब तुम सब फेंककर उन्हीं की ओर दौड़ जाओगे।

रत्नाकर (समुद्र) में अनेक रत्न हैं, पर उन्हें पाने के लिए तुम्हें कठिन परिश्रम करना होगा। यदि एक ही डुबकी में तुम्हे रत्न न मिले, तो समुद्र को रत्न से रहित मत समझ बैठो। बार-बार डुबकी लगाओ, डुबकी लगाते लगाते अन्त में तुम्हें रत्न जरूर मिलेगा। इसी प्रकार भगवत्-प्राप्ति के पथ में यदि तुम्हारे शुरू-शुरू के प्रयास असफल हों, थोड़ी-सी साधना से तुम्हें ईश्वर के दर्शन न हों, तो हताश न होओ, धीरज के साथ साधना करते रहो। अन्त में, ठीक समय पर, तुम्हें उनके दर्शन अवश्य होंगे। – *श्रीरामकृष्ण*
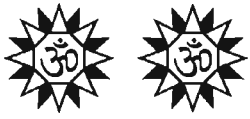
स्वामी प्रेमानन्द के संग में (२५)
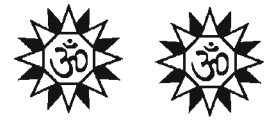
(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। मठ के मन्दिर में वे पूजा भी किया करते थे। स्वामी ओंकारेश्वरानन्द ने बँगला भाषा में हुए उनके अनेक वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया तथा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

द्वितीय परिच्छेद

आज बुधवार, २९ मार्च १९१६ ई. का दिन है। पूजनीय बाबूराम महाराज बेलूड़ मठ में पूज्यपाद आचार्य श्रीमत स्वामी विवेकानन्द के समाधि-मन्दिर के सम्मुख स्थित बिल्ववृक्ष के नीचे बनी वेदी पर बैठकर ध्यान कर रहे हैं। शचिन (स्वामी चिन्मयानन्द), ब्रह्मचैतन्य, वरदा (जोशी महाराज) और बाली के डॉक्टर भी उनके पास बैठे ध्यान कर रहे हैं।

संध्या हो गयी है। ठाकुर की आरती के घण्टे की मधुर ध्वनि सुनाई दे रही है। आजकल ब्रह्मचारी ज्ञान महाराज ठाकुर की पूजा करते हैं।

महाराज का ध्यान भंग होने पर ब्रह्मचैतन्य ने पूछा – महाराज, नवानुराग में जैसा बल रहता है, वैसा बाद में क्यों नहीं रह जाता?

बाबूराम महाराज – साधुसंग, निष्ठा तथा सदाचार चाहिए।

ब्रह्मचैतन्य – मठ में नित्यसिद्ध जीवन्मुक्त ठाकुर के अन्तरंग पार्षद त्यागी शिष्य लोग हैं, इससे बढ़कर साधुसंग अन्यत्र कहाँ मिलेगा?

बाबूराम महाराज – "साधुसंग का अर्थ जानते हो? उनके चाल-चलन, बातचीत, हावभाव, आचार-निष्ठा, अहेतुकी प्रेम – इन सब पर ध्यान देना तथा अनुकरण करना। देखा न, आज ग्रन्थालय में श्रीमहाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) को कैसा भाव हुआ था? इसी को परमहंस अवस्था कहते हैं। (ब्रह्मचैतन्य की ओर उन्मुख होकर) तू तो वहाँ था। श्रीठाकुर को वैसी अवस्था प्राय: ही हुआ करती थी।

"ठाकुर कहा करते थे, 'साधु का कमण्डल चारों धाम घूम आता है, परन्तु कड़वे का कड़वा ही रह जाता है।'

"काय-मनो-वाक्य से साधु की सेवा तथा प्रश्न करना चाहिए, श्रद्धापूर्ण हृदय से उनके उपदेशों के अनुसार चलना चाहिए। ऐसा ही करते-करते जन्म-जन्मान्तर के दोष, विषय-वासना आदि दूर हो जाते हैं; मन शुद्ध-पवित्र हो जाता है; ईश्वर के प्रति प्रेम-भक्ति होती है। साधु ईश्वर के जीवन्त, चलते-फिरते विग्रह हैं, उनके प्रतीक हैं। साधुसंग चावल का धोवन है, यह विषयों के नशे को दूर कर देता है।

"मन शुद्ध हो जाने पर, एकाग्र होता है, सूक्ष्म होता है। मन के एकाग्र-सूक्ष्म-शुद्ध होने पर भगवान का दर्शन होता है। 'दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि:'। जैसै-जैसे मन की एकाग्रता बढ़ेगी, मन शुद्ध होगा, वैसे-वैसे मन के कोनों में छिपे दोषों को पकड़ने की सामर्थ्य आयेगी। बीच-बीच में निर्जन में अपने मन की परीक्षा तथा प्रश्न करना चाहिए कि वह कहाँ अटक रहा है, उसमें क्या दोष हैं। लोगों के संग में मन के कोनों में छिपे सूक्ष्म संस्कार दबे पड़े रहते है, आसानी से पकड़ में नहीं आते। दूसरों के दोष न देखकर अपने दोष पकड़ना ही साधुता है। उन दोषों को पकड़कर उन्हें सुधारना होगा, निर्ममतापूर्वक उन्हें दूर करना होगा। तालाब का पानी काई से ढँका हुआ है, उसे हटा दो, तो पानी भलीभाँति दिखने लगेगा। परन्तु थोड़ी देर बाद ज्यों-का-त्यों हो जाता है। विषय-वासना ही काई है। साधुसंग रूपी बाँस के द्वारा उस काई को हटाये रखना होगा।

"परन्तु परमात्मा का दर्शन हुए बिना, कामना का जड़ पूरी तौर से नष्ट नहीं होता। गीता में है – 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'। विषय-वासना के गये बिना परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता। कामना का नाश और आत्मदर्शन – ये मानो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। साधुसंग करूँगा, भक्तसंग करूँगा, दान-ध्यान करूँगा – ऐसी कामना अच्छी है। ठाकुर कहते थे – 'मिश्री मिठाइयों में नहीं आती।' बाद में इन कामनाओं का भी त्याग हो जाता है।

"खर की आग झट से जल उठती है और थोड़ी देर बाद बुझकर राख मात्र रह जाता है। सहसा किसी कारण से वैराग्य हुआ तो विषय विष के समान प्रतीत होने लगते हैं। उस कारण के दूर होते ही, फिर ज्यों का त्यों रह जाता है। इसीलिए निष्ठा के साथ नाम-जप में डूब जाना चाहिए, उसके साथ एकाकार हो जाना चाहिए। अनुराग तभी स्थायी होता है। चैतन्यदेव सारी रात बैठकर जप करते थे। उनके पार्षदगण भी लाख जप किये बिना अन्न नहीं ग्रहण करते थे। बड़ा परिश्रम करना पड़ता है, बेटा, ऐसे ही क्या कुछ होता है?"

ब्रह्मचैतन्य – अनुराग हुए बिना अधिक जप करने की इच्छा नहीं होती। मानो कोई आसन से ठेलकर उठा देता है।

बाबूराम महाराज – "कामना ही आसन से ठेलकर उठा देती है। ठाकुर कहते थे, 'धागे से थोड़ा भी रेशा निकला रहे, तो उसे सूई में नहीं पिरोया जा सकता।' वासना ही वह रेशा है। जप में अधिक काल तक मन न बैठे, तो सद्ग्रन्थों का पाठ, भजन, निष्काम कर्म और प्रार्थना करनी चाहिए। श्रद्धा तथा निष्ठा के साथ इसी प्रकार दीर्घ काल तक अभ्यास तथा

विचार के फलस्वरूप मन क्रमश: बैठ जायगा। मन का बलपूर्वक निग्रह नहीं करना चाहिए, इससे काम बिगड़ सकता है।... 'यदि मोह-गर्त में खींच ले जाय, तो धैर्य का खूँटा पकड़े रहना'। गीता में है – 'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'; 'शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया'।

३. रामकृष्ण मिशन की नींव

बाबूराम महाराज – ''तुम गुरुभाई लोग आपस में खूब प्रेम-विश्वास रखना। सावधान, तुम लोगों के भीतर कभी प्रेम की कमी न हो। सर्वभूतों से प्रेम ही रामकृष्ण मिशन की नींव है।

''कहीं ऐसा मत समझ बैठना कि हम लोग एक सम्प्रदाय बना रहे हैं। तुम लोग जब भी इस मिशन में साम्प्रदायिकता घुसाओगे, तभी तुम लोगों का पतन हो जायगा। साम्प्रदायिकता नहीं रहेगी, परन्तु उदासीन रहने से भी काम नहीं चलेगा। उदासीन होने का मतलब है – किसी भी विषय में एकनिष्ठ न होना। ऐसा होने से काम नहीं चलेगा। उदार होना होगा और उसके साथ ही एकनिष्ठ होने की भी आवश्यकता है। निष्ठा से ही क्रमश: सब कुछ आयेगा।

''हिन्दू, मुसलमान, ईसाई – चाहे जो भी मठ में आयें, मैं उनका आलिंगन करके उन्हें अपना बना लेने के लिए हाथ बढ़ाए हुए हूँ।

''भगवान में अनुराग चाहिए, श्रद्धा चाहिए, भक्ति चाहिए, विश्वास चाहिए और प्रेम चाहिए। यह सब एक अलग राज्य की चीज है। दो-चार मंत्र पढ़कर, विरजा होम करके, एक गेरुआ लेकर संन्यासी हो गये – इससे भला क्या होगा? तो भी यदि प्रतिदिन परमहंस-मंत्र की आवृत्ति करूँ, तो भी कुछ हुआ। परन्तु एक गेरुआ पहनकर, एक अलग सम्प्रदाय का निर्माण करना और गृहस्थों की निन्दा करना! मुझे इन सब पर नाराजगी होती है। जो भगवान को पुकारता है, जो ठाकुर को अपना बना लेता है, चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी – वही मेरा अपना आदमी है। भगवान का नाम लिए बिना, उनके लिए पागल हुए बिना यह जीवन ही वृथा है।

(ब्रह्मचैतन्य से) ''ठाकुर की एकनिष्ठा की बातें सुनोगे? वे कितने उदार थे, सभी मतों की साधना की थी, तो भी कितने एकनिष्ठ थे। वे कहते – कलि में प्राण अन्नगत हैं, जिस-तिस का अन्न नहीं खाना चाहिए; स्पर्श से दोष आता है . योगी लोग समझ जाते हैं कि कौन-सा अन्न स्पर्श-दोष से दूषित है।

''जिनकी परमहंस अवस्था है, जो पहनने के वस्त्र कमर पर टिकाये नहीं रह पाते, जो शिशु के समान दिगम्बर होकर घूमते हैं, जिनके कन्धे पर जनेऊ नहीं टिकता – स्वेच्छापूर्वक नहीं, बल्कि प्रयास करने पर भी नहीं टिकता; समाधि जिनके करतलगत है, प्रतिक्षण जिनका जीवन तथा उपदेश वेद-वेदान्त के आगे निकल गये हैं, जिनके एक भी उपदेश का पालन करने से जीव का भवरोग दूर हो जाता है, स्पर्श-दोष भला उनका क्या कर सकता है? तो भी हमारी शिक्षा के लिए वे ब्राह्मणेतर जातियों का स्पर्श किया हुआ अन्न नहीं खाते थे।

''गले के घाव की चिकित्सा के लिए ठाकुर काशीपुर के उद्यान-भवन के ऊपर के कमरे में निवास कर रहे थे। दो आदमी हाथ में बड़ा पंखा लिए सर्वदा उन्हें हवा करते रहते थे, तो भी उनके शरीर की तपन दूर नहीं होती थी। बड़ी मसला हुआ थोड़ा-सा भात उन्हें खिलाया जाता था। शरत्, निरंजन, शशी, योगेन – इन्हीं में से कोई एक मसला हुआ भात थोड़ा-थोड़ा करके ठाकुर को खिला देता। हम लोगों से वे इतना प्रेम करते थे, इतना आदर-यत्न करते थे, परन्तु कायस्थ होने के कारण हमारे हाथ का अन्न नहीं खाते थे।

''पर एक दिन उन्होंने मुझसे कहा था – एक दिन तू मेरे लिए भोजन पकाना, तेरे हाथ से खाऊँगा। एक दिन उन्होंने मेरे मुख पर सुरा छिड़ककर कहा था – जा, तेरा पूर्णाभिषेक हो गया। मेरे ऊपर उनकी इतनी कृपा थी! अस्तु।

''इसके बाद जिस दिन ठाकुर अपना नश्वर देह छोड़कर चले गये, उस दिन या उसके पहले दिन उन्होंने कहा था – आज तुममें से जिसकी भी इच्छा हो, मुझे अन्न खिला दे। आज 'आतुरे नियमो नास्ति'। ...

''उदारता के साथ ऐसी एकनिष्ठा होने से ही भगवान की प्राप्ति होगी। ठाकुर हमें यही सिखाते थे। वे भूत, भविष्य और वर्तमान – सब आँखों के सामने देख पाते थे। हम लोगों को इसी तरह की शिक्षा देने के कुछ काल बाद, हममें से कुछ लोगों को कुछ क्रिया सिखाकर बोले – जा, अब से चाण्डाल के घर खाने से भी तुम लोगों को कोई दोष नहीं होगा।''

४. मुमुक्षु के लिए काम-कांचन त्याज्य है

आज अपराह्न में तीन-चार बजे संसार-भीरु दो वयस्क महिलाएँ मठ में पूजनीय स्वामी ब्रह्मानन्द के पास आयी थीं। उनमें से एक के माता-पिता अपनी पुत्री को विवाह के बन्धन में आबद्ध करना चाहते हैं। परन्तु वह बालिका खूब वैराग्यवान है, विवाह करना नहीं चाहती और भगवान की प्राप्ति के लिए व्याकुल है। पूजनीय ब्रह्मानन्द महाराज ने बाबूराम महाराज को बुलवाकर उनके साथ परिचय करा दिया था।

बाबूराम महाराज उनके विषय में कह रहे हैं – ''आज जो दो महिलाएँ आयी थीं, उनमें खूब वैराग्य है। जो छूरा लेकर आयी थी, उसका देवी-भाव है। दूसरी के हाथ में त्रिशूल का चिह्न है। बड़ी उच्च अवस्था है। ब्रह्मानन्द महाराज ने उसकी खूब प्रशंसा की। मैं यदि अधिक समय उन लोगों के साथ रहता, तो सम्भव है 'हरिबोल' 'हरिबोल' कहकर नाचना शुरू कर देता, इसीलिए थोड़ी देर रहकर ही मैं वहाँ से भाग आया।

''देखो, स्त्री हजार भक्त रहे, तो भी अधिक देर उनके पास

नहीं रहना चाहिए। जब तक उनके पास रहोगे, तब तक अपने को स्त्री या उन्हें साक्षात् जगदम्बा समझना चाहिए। वैसे उनमें भी हमारे (पुरुषों) के समान विवेक, वैराग्य, प्रेम, भक्ति, विश्वास – सब आ सकता है और आता है। परन्तु इनके साथ अधिक मेलजोल नहीं करना चाहिए, अलग रहना चाहिए। अपना काम पूरा चला गया है, ऐसा समझकर स्वयं को धोखे में नहीं रखना चाहिए।

''‘मैं मरूँगी और राख उड़ जायगी, तभी समझना कि काम नहीं है।’ किसी ग्राम में एक सती-साध्वी निवास करती थीं। काफी काल बाद उनकी अन्तिम दशा हो जाने पर, उसके मस्तक में सिन्दूर, हाथ में शंख की चूड़ियाँ और लाल किनारी के वस्त्र पहनाकर जब उन्हें गंगायात्रा के लिए ले जा रहे थे, तो उस ग्राम के लोग रो रोकर कहने लगे, ‘हाय, हाय, इतने दिनों बाद हमारा ग्राम सतीहीन हो गया!’ गंगायात्री सती-साध्वी ने यह सुनकर कहा – ‘नहीं, नहीं, अभी मत कहो। मैं मर जाऊँगी, राख उड़ जायगी, तभी समझना कि काम नहीं है।’

''१८८४ ई. में जब मैं श्यामबाजार में विद्यासागर के स्कूल में पढ़ता था, मास्टर महाशय (श्रीरामकृष्ण-वचनामृत के लेखक) तब उसी स्कूल में पढ़ाया करते थे। वे उन दिनों कलकत्ते के श्यामबाजार में निवास करते थे। तब कलकत्ते में चारों ओर खूब हैजा फैला हुआ था। मास्टर महाशय के बड़े पुत्र का उसी रोग से देहान्त हो गया। उसके बाद उन्हें भी हैजा हुआ। हम बहुत से छात्र एक साथ मिलकर उन्हें देखने जाया करते थे। इस श्रीठाकुर ने दक्षिणेश्वर या कहीं अन्यत्र मेरे सामने ही मास्टर महाशय से कहा था, ‘क्यों जी, घर में तुम्हारी युवा पत्नी है। तुम इस प्रकार लड़कों को अपने घर में कैसे घुसने देते हो?’ मास्टर महाशय ने कहा, ‘ये लोग मेरे छात्र हैं, इसमें दोष क्या है?’ ठाकुर ने कहा, ‘हजार छात्र हों, घर में तुम्हारी युवा पत्नी है। पुरुषों को स्त्रियों के पास नहीं जाने देना चाहिए। परन्तु यहाँ (दक्षिणेश्वर में) जो देखते हो, वह माँ मुझे खींचे रहती हैं।

''ठाकुर इतने बड़े कामजित् पुरुष थे, वे भी स्त्रियों के साथ अधिक समय नहीं रहते थे। गोलाप-माँ, योगेन-माँ आदि दक्षिणेश्वर में ठाकुर के पास जाने पर, आधे से पौन घण्टे उनके साथ बातें करने के बाद वे कहते – जाओ, पंचवटी या काली-मन्दिर में जाओ। इस पर भी यदि वे नहीं हिलतीं, तो वे स्वयं ही वहाँ से उठ जाते। तो भी उनका तो काम-कीट निकल चुका था, सुना है न? एक दिन उनके पेशाब के साथ एक कीड़ा निकला। ठाकुर तो बड़े चिन्तित हो गये और सरल बालक के समान मथुर बाबू से पूछा। उन्होंने कहा – बाबा, वह काम-कीट था, आपके शरीर से निकल गया।

''अहंकार ही सारे सर्वनाश का मूल है। हम लोग जो साढ़े तीन हाथ के नहीं हैं, दीन-हीन नहीं हैं, बीच में अहंकार रहने से भगवान के साथ हमारा क्या सम्बन्ध है, यह बिल्कुल भी समझ नहीं पाते। ‘मैं मरा कि बला टली’ नाहं नाहं नाहं तूही तूही तूही।''

रात के लगभग नौ बजे थे। महाराज मठ की ओर जाने को उठे। इसके थोड़ी देर बाद प्रसाद का घण्टा बज गया।

९. भक्त के प्रति अपराध

प्रथम परिच्छेद

श्रीठाकुर द्वारा मोटे ब्राह्मण को फटकार

आज बृहस्पतिवार, १६ मार्च १९१६ ई. का दिन है। पूजनीय बाबूराम महाराज, महापुरुष महाराज, गंगाधर महाराज मठ-भवन के पूर्व की ओर के निचले बरामद में बड़े बेंच के ऊपर पूर्व की ओर मुख किये विराजमान हैं। बगल की बेंच पर ब्रह्मचैतन्य तथा कुछ अन्य ब्रह्मचारी बैठे हुए हैं।

बाबूराम महाराज – ''ठाकुर ने एक बार किसी कारण से स्वामीजी के साथ बातें करनी बन्द कर दी थी। परन्तु स्वामीजी इस पर विचलित नहीं हुए और उन्होंने दक्षिणेश्वर जाना बन्द नहीं किया। इसीलिए उन्होंने स्वामीजी की प्रशंसा की थी।

''नरेन की कोई निन्दा करे, तो ठाकुर उस पर बड़े नाराज हो जाते थे। एक बार जनाय के प्राणकृष्ण मुकर्जी ने, जिन्हें ठाकुर मोटा ब्राह्मण कहा करते थे, ठाकुर के सामने नरेन की निन्दा की। इस पर ठाकुर उनके ऊपर असन्तुष्ट हो गये थे। नरेन साक्षात् शिव है, उसके सिर पर मणि है, मेरी ससुराल है, सप्तर्षियों में से एक ऋषि है, उसकी निन्दा! यह तो भक्त अपराध है। यह बात कहने के कुछ दिनों बाद श्रीयुत प्राणकृष्ण ने दक्षिणेश्वर में ठाकुर के लिए कुछ फल आदि भेजा। उन्होंने स्वामीजी की निन्दा की थी, इस कारण ठाकुर ने उनकी चीजें स्वीकार नहीं कीं, वापस भेज दिया। तब मोटे ब्राह्मण हाँफते-हाँफते दक्षिणेश्वर दौड़े आये और ठाकुर को सन्तुष्ट किया।

''जौहरी ही रत्न को पहचानता है। स्वामीजी कितने बड़े आधार थे, यह ठाकुर ही जानते थे। स्वामीजी के पिता का देहान्त हो जाने के बाद उनके छोटे भाई, विधवा माँ – इनके लिए एक मुट्ठी अन्न जुटाने हेतु नरेन रास्ते-रास्ते घूम रहे थे। इसके ऊपर मुकदमा भी चल रहा था। उनके उस कष्ट की बात सुनकर ठाकुर ने एक दिन कहा था – ‘नरेन ने महाशक्ति लेकर जन्म ग्रहण किया है। इन सब बाधा-विघ्नों के द्वारा माँ उसे ठीक कर ले रही हैं। हर रोज उसके पेट में भात पड़ने से वह पृथ्वी को उलट-पलट कर देगा। वह छत्तीस प्रकार के स्वाधीन मत चला सकता है’।''

❖ **(क्रमशः)** ❖

स्वामी अचलानन्द (१)

स्वामी अब्जजानन्द

''नहीं महाशय, यह किसी काम का नहीं है। इसकी भाषा बड़ी क्लिष्ट है। इसमें कुछ भी नहीं है।'' यह टिप्पणी थी वाराणसी में एक तरुण पुलिस कर्मचारी की, जिसके समक्ष उनका कोई मित्र 'उद्बोधन' पत्रिका में प्रकाशित स्वामीजी द्वारा लिखित उसकी प्रस्तावना का पाठ कर रहे थे। उनका उद्देश्य था उन पुलिस-मित्र को उस पत्रिका का सदस्य बनाना। परन्तु स्वामीजी की कठिन भाषा के कारण, लगता है उस दिन उनका प्रयास व्यर्थ ही गया था, जैसा कि पुलिस कर्मचारी के उपरोक्त उपेक्षापूर्ण उक्ति से प्रतीत होता है। पुलिस के कार्य में उनकी नयी-नयी नौकरी लगी थी, तब भी वे प्रशिक्षार्थी ही थे। उनका शरीर बलिष्ठ तथा चरित्र उन्नत था। उस समय तक उन्होंने अपने जीवन का यही लक्ष्य समझ रखा था – अपने बाहुबल के द्वारा देश से अन्याय तथा भ्रष्टाचार को दूर करना और समाज की रक्षा करना। परन्तु लगता है विधाता उनके इस संकल्प पर हँस रहे थे। कालचक्र ने उनकी जीवन-गति को पूरी तौर से विपरीत दिशा में घुमा दिया था। परिपक्व आयु में उनके मुख से सुनने में आता था, ''स्वामीजी के प्रेम की बात भाषा के द्वारा नहीं समझायी जा सकती – मुझमें वह क्षमता नहीं है। एक वाक्य में कहा जाय, तो वे प्रेम की प्रतिमूर्ति थे।''

उस क्लिष्ट आवरण को भेदकर वे किस उपाय से उस प्रेम की खोज कर सके थे, यही यहाँ पर विचारणीय प्रश्न है। उस तरुण राज-कर्मचारी का नाम था केदारनाथ मौलिक। एक अलौकिक घटना-प्रवाह में पड़कर ये ही स्वामी अचलानन्द के नाम से स्वामीजी के एक अन्तरंग शिष्य के रूप में विख्यात हुए थे। वे ही रामकृष्ण संघ के बहुमानित 'केदार बाबा' थे। भक्ति-विश्वास की घनीभूत प्रतिमूर्ति केदार बाबा असंख्य जिज्ञासु-भक्तों तथा साधु-ब्रह्मचारियों के जीवन में प्रेरणा के स्रोत-स्वरूप थे। एक आदर्श संन्यासी के रूप में वे संघ के इतिहास में चिर-स्मरणीय रहेंगे।

केदारनाथ का जन्म तथा शिक्षा-दीक्षा उत्तरप्रदेश के वाराणसी नगर में हुई थी। उनका मकान वहाँ के सोनारपुरा मुहल्ले में था। उनके पिता का नाम शम्भुचन्द्र मौलिक था। बचपन में ही माँ का देहावसान हो जाने के कारण वे अपने दादा रामचन्द्र मौलिक की देखरेख में बड़े हुए। अपने पूर्वाश्रम के विषय में वे सर्वदा इतने मौन रहते कि उनकी जन्मतिथि तथा पितृकुल के विषय में ज्यादा कुछ पता नहीं चलता। तो भी अनुमान किया जाता है कि १८७६ ई. में किसी समय उनका जन्म हुआ था। वे बँगला भाषा समझ तथा बोल लेते थे, परन्तु लिख नहीं पाते थे। वैसे फारसी भाषा पर उनका अच्छा अधिकार था। फारसी कविता के बहुत-से अंशों का वे अपनी स्मृति से ही सुन्दर आवृत्ति कर लेते थे। विद्यालय में उन्होंने प्रवेशिका तक की पढ़ाई की थी। शैशव काल से ही वे मातृस्नेह से वंचित थे, अत: उनके जीवन की गति उनके स्वभाव के अनुसार परिचालित नहीं हो सकी थी। इसीलिये अध्यात्म-जगत् के एक इतने बड़े व्यक्ति के बचपन में देखने में आता है कि उनकी रेलवे या पुलिस विभाग में एक उच्च अधिकारी मात्र होने की ही आकांक्षा थी।

केदारनाथ के अपने घर में ही एक सुसज्जित ग्रन्थालय था, जिसमें 'हिन्दू', 'बंगवासी', 'हितवादी' आदि तत्कालीन अनेक प्रकार की पत्र-पत्रिकाएँ भी रखी जाती थीं। उनके ग्रन्थालय में किसी देवी-देवता या महापुरुष का चित्र नहीं लगाया गया था, बल्कि उसके स्थान पर राजा-महाराजाओं के मूल्यवान चित्र लगे हुए थे। कुल मिलाकर कहें तो केदारनाथ के बचपन तथा यौवन में उनके परिवार के लोगों या सम्बन्धियों की ओर से उनके भावी जीवन के लिये कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। विद्यालय की पढ़ाई समाप्त करने के बाद उन्होंने पुलिस विभाग की नौकरी कर ली। इसी समय कुछ चरित्रवान तथा आदर्शवादी युवकों के सम्पर्क ने उनके जीवनधारा की दिशा-परिवर्तन में विशेष सहायता की थी।

केदारनाथ के मित्रों में चारुचन्द्र दास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। चारुचन्द्र ही उन लोगों के अगुआ थे और परवर्ती काल में वे शुभानन्द के नाम से स्वामीजी के एक शिष्य के रूप में विख्यात हुए। केदारनाथ या चारुचन्द्र के घर में ही मुख्य रूप से इन युवकों का अड्डा था। केदारनाथ का अपना ग्रन्थालय होने के कारण युवक मित्रों का उन्हीं के घर में अधिक आकर्षण था। वे लोग ग्रन्थागार से विभिन्न जीवनोपयोगी ग्रन्थ – यथा महाकवि गिरीशचन्द्र के नाटक या इसी तरह का कोई ग्रन्थ लेकर उसका पाठ तथा उस पर चर्चा करते। तब भी उच्च आध्यात्मिक जीवन की कोई सुनिश्चित कल्पना उनमें से किसी में भी दृष्टिगोचर न होने के बावजूद सभी अपने-अपने नैतिक चरित्र के गठन करने का तीव्र प्रयास कर रहे थे। वाराणसी में इसी प्रकार आदर्शवादी तरुणों की एक टोली संघबद्ध हो रही थी।

मित्र चारुचन्द्र के साथ स्वामी शुद्धानन्द का पहले से ही परिचय हो चुका था। स्वामी त्रिगुणातीतानन्द के सम्पादन में १४ जनवरी १८९९ ई. को 'उद्बोधन' पत्रिका के प्रथम अंक का प्रकाशन हुआ। शुद्धानन्द ने चारुचन्द्र से वाराणसी में उस

पत्रिका के कुछ सदस्य बनाने का अनुरोध किया था और नमूने के रूप में उसकी कुछ प्रतियाँ भी दी थीं। चारुचन्द्र ने एक दिन हरिनाथ नाम के अपने एक मित्र के हाथों केदारनाथ के पास 'उद्‌बोधन' की एक प्रति भेजी और अनुरोध किया कि वे उसके ग्राहक बन जायँ। 'उद्‌बोधन' के उस प्रवेशांक के लिये प्रस्तावना स्वामीजी ने स्वयं लिखी थी। लगता है केदारनाथ के चित्त में तब भी एक उच्चाधिकारी बनने की महत्त्वाकांक्षा बनी हुई थी। इसीलिये स्वामीजी का वह लेख उन्हें पसन्द नहीं आया। यह समाचार चारुचन्द्र के पास जा पहुँचा और एक दिन उन्होंने स्वयं ही आकर स्वामीजी द्वारा लिखित वह प्रस्तावना पढ़कर केदारनाथ को सुनाया। इससे सहसा केदारनाथ का मन स्वामीजी के साहित्य की ओर आकृष्ट हो उठा। पहले उनकी जो धारणा थी कि स्वामीजी की रचनाएँ बड़ी दुर्बोध्य हैं और इस विषय में उन्होंने जो विचार व्यक्त किये थे, उनके लिये अब उन्हें बड़ा खेद हुआ। उन्होंने अपना नाम तो नहीं, पर अपने पितामह रामचन्द्र मौलिक का नाम 'उद्‌बोधन' के ग्राहकों की तालिका में लिख लेने का चारुचन्द्र से अनुरोध किया और अपने लिये स्वामीजी के 'राजयोग' की एक प्रति मँगा देने को कहा। केदारनाथ के घर में स्वामीजी का प्रथम पदार्पण इसी प्रकार हुआ। इस प्रसंग में उन्होंने स्वयं ही अपनी स्मृतिकथा में लिखा है –

''उनका (चारुचन्द्र) ऐसा आग्रह देखकर अपनी अनिच्छा के बावजूद मैं स्वामीजी का लेख सुनने को राजी हो गया। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि जो प्रस्तावना पहले मुझे बड़ी क्लिष्ट प्रतीत हुई थी, चारुबाबू के मुख से वही प्रस्तावना सुनकर मुझे इतनी अद्‌भुत लगी कि कहकर नहीं बतला सकता ! यह सोचकर मैं मन-ही-मन खूब लज्जित हुआ कि एक इतनी सुन्दर चीज को मैंने पहले नापसन्द किया था।... तभी से मैंने 'उद्‌बोधन' लेना शुरू किया। इसके बाद से हर रोज रात में उस ग्रन्थालय में हम लोगों के बीच उन्हीं विषयों पर चर्चा चलने लगी।

श्रीरामकृष्ण के विशिष्ट शिष्यों में से एक स्वामी निरंजनानन्द जी उन दिनों वाराणसी के ही सोनारपुरा में स्थित वंशीदत्त के उद्यान में रहकर तपस्या कर रहे थे। चारुचन्द्र ने पहले ही केदारनाथ तथा अन्य मित्रों को इसकी सूचना दे दी थी। सबका आग्रह था कि एक दिन उन्हें इस ग्रन्थालय के चर्चा-सत्र में आमंत्रित किया जाय – निश्चय ही उनके मुख से अच्छी-अच्छी बातें सुनने को मिलेंगी। केदारनाथ यह सुनकर खूब उत्साहित हो उठे, विशेषकर यह सोचकर कि एक ऐसे महापुरुष के उनके घर पधारने से उनके परिवार का भी अपार मंगल होगा। जो भी हो, निरंजनानन्द जी से मिलकर उनके आने का दिन-तारीख आदि निश्चित कर लिया गया। पर एक कठिनाई आ खड़ी हुई, केदारनाथ के ग्रन्थालय में एक साधु का आगमन होनेवाला था, परन्तु वहाँ दीवार पर जो चित्र टँगे हुए थे, वे उस अवसर के उपयुक्त न थे। आखिरकार निश्चित किया गया कि चारुचन्द्र के पास निरंजनानन्द जी से उपहार में प्राप्त श्रीरामकृष्ण का जो चित्र है, उसी को उस दिन ग्रन्थालय में लाया जायगा। केदारनाथ ने इसके पूर्व कहीं भी श्रीरामकृष्ण का कोई चित्र नहीं देखा था। इस प्रस्ताव पर सभी लोग बड़े आनन्दित हुए। निरंजनानन्द जी संध्या के बाद आने वाले थे, अत: उसके पहले ही चित्र को लाकर एक सुसज्जित स्थान पर रख दिया गया। सभी युवक फूल-मालाएँ तथा स्वागत के लिये आवश्यक वस्तुएँ लाने के लिये इधर-उधर चले गये, केवल केदारनाथ ही श्रीरामकृष्ण के चित्र के समक्ष धूप-दीप आदि जलाने का भार लेकर घर में रह गये थे। चित्र के सम्मुख जाते ही केदारनाथ मानो एक अनिर्वचनीय आनन्द से अभिभूत हो उठे। उस समय संध्या हो चली थी। केदारनाथ हाथ में दीप लिये चित्रलिखे से अपलक दृष्टि से चित्र की ओर देखते रह गये। अपने उस आनन्द-अनुभूति के विषय में वे अपने मुख से जो कुछ कहते, उसे उसी रूप में यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है –

''चित्र को देखकर मुझे इतना अच्छा लगा कि मैं क्या कहूँ ! मेरे मन में आया कि ये मानो मेरे बहुकाल के परिचित अपने जन हैं। वे लोग चित्र को रखकर माला लाने गये थे और मैं ग्रन्थालय में बैठकर बारम्बार उस चित्र की ओर देख रहा था। ऐसा लगा मानो वह चित्र सजीव हो और मेरी ओर देख-देखकर हँस रहा हो। मैं जिस ओर भी मुख फेरता हूँ, उसी ओर वह मूर्ति आकर मेरे सामने बैठ जाती है। इसी प्रकार थोड़ा समय बीत जाने पर मैं भाव-विह्वल हो उठा। वे महापुरुष हैं या भगवान – यह सब विचार तब तक मेरे मन में जरा भी नहीं उठा था। मुझे तो केवल यही लग रहा था मानो आज मैं अपने बहुत दिनों के आकांक्षित एक प्रियजन का दर्शन पाकर कृतकृत्य हो गया हूँ।''

उसी दिन से केदारनाथ 'बहुत दिनों के आकांक्षित प्रियजन' (श्रीरामकृष्ण) उनके समग्र हृदय पर अधिकार जमा बैठे। सच कहें तो तभी से उनके जीवन की आशा-आकांक्षा तथा लक्ष्य – सब कुछ मानो एक नवीन रूप में उनके सम्मुख प्रकट होने लगा। स्वामी निरंजनानन्द जी ने रात के समय आकर केदारनाथ के ग्रन्थालय में पदार्पण किया। हाथ में लालटेन लिये हुए केदारनाथ ने उन्हें मार्ग दिखाते हुए घर में लाकर बैठाया। श्रीरामकृष्ण के एक साक्षात् पार्षद को अपने बीच में पाकर उस दिन युवा-मण्डली के आनन्द की सीमा न रही। उस दिन उन लोगों को उनके मुख से युगावतार के विषय में बहुत-सी बातें सुनने का सौभाग्य मिला था। सुगठित शरीरवाले उन सौम्य सुन्दर संन्यासी को देखते ही केदारनाथ मुग्ध हो गये थे। थोड़ी देर पूर्व ही जिनका चित्र देखते ही वे भाव-विह्वल हो उठे थे,

अब उन्हीं के एक शिष्य को सामने पाकर वे अपने हृदय में उन्हें मानो श्रीरामकृष्ण की ही एक सजीव प्रतिमूर्ति के रूप में अनुभव करने लगे। जीवन के इस पुराने अनुभव का स्मरण करते हुए वे अपनी वृद्धावस्था में भी रोमांचित हो उठते थे। उनकी स्मृतिकथा इस प्रकार है –

"निरंजन स्वामी का दर्शन करके मुझे बहुत अच्छा लगा। लम्बा-चौड़ा तथा गौरवर्ण शरीर! गम्भीर होकर भी प्रफुल्ल! उनके शरीर पर गेरुआ रंग का एक बड़ा लबादा था। देखने में कितने सुन्दर लग रहे थे! प्रथम दर्शन के समय ही लगा – वाह, अच्छे साधु हैं ये तो! श्रीरामकृष्ण के ये शिष्य तो बड़े सुन्दर हैं! उनका दर्शन करते ही ठाकुर के प्रति श्रद्धा हो गयी।"

निरंजनानन्द जी ने युवकों को ठाकुर के विषय में बहुत-सी बातें बताकर उन लोगों को उनके प्रति खूब आकर्षण उत्पन्न कर दिया। केदारनाथ उसी समय से उत्तरोत्तर श्रीरामकृष्ण की ओर अग्रसर होने लगे। उनके जागतिक तथा सरकारी कार्य क्रमशः महत्त्व खोने लगे। वह चित्र फिर वापस नहीं दिया गया; वह केदारनाथ का हृदय-देवता होकर उनके ग्रन्थालय में ही विराजता रहा। प्रतिदिन संध्या के समय वे श्रीरामकृष्ण के चित्र के सम्मुख धूप-दीप आदि जलाकर चुपचाप बैठे रहते। गहरी रात के समय उसी के समक्ष ध्यान करते। निरंजनानन्द जी भी उसी समय से प्रतिदिन सुबह एक बार केदारनाथ के कमरे में आकर उन्हें खूब उत्साह तथा प्रेरणा दे जाते। केदारनाथ का ध्यान-धारणा के प्रति आकर्षण बढ़ता ही चला जा रहा था। परन्तु उन्हें अपने हृदय में एक तरह की असुविधा का अनुभव हो रहा था – शाम को जब वे अपने दफ्तर का कार्य पूरा करके घर लौटकर ध्यान-साधना करने बैठते, उस समय उनके मन में दफ्तर के ही कागज-पत्रों के विषय भासने लगते। एक ओर थी उनकी भगवच्चिन्तन के लिये व्याकुलता और दूसरी तरफ थी सरकारी कार्य के प्रति जिम्मेदारी की भावना – इन दोनों परस्पर विरोधी भावों के संघर्ष में तरुण केदारनाथ विचलित हो उठे। आखिरकार उन्होंने निश्चय किया कि वे सरकारी कार्य से त्यागपत्र दे देंगे और स्वयं को पूरी तौर से अध्यात्म-चर्चा में ही लगा देंगे। प्रतिदिन निरंजनानन्द जी के मुख से श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के अद्भुत त्याग-वैराग्य की बातें सुनते-सुनते केदारनाथ के चित्त में भी क्रमशः विषयों के प्रति वैराग्य के संस्कार पड़ते रहे। इसी प्रकार केदारनाथ मौलिक के मानस-पटल से पुलिसी रुआब की मोहकता दूर होकर उसके स्थान पर गैरिक आभा प्रस्फुटित होने लगी।

कुछ दिनों बाद ही श्रीरामकृष्ण के आविर्भाव की पुनीत तिथि आ पहुँची। १८९९ ई. की ही बात चल रही है। केदारनाथ तथा उनके युवा मित्रों के मन में इच्छा हुई कि वे लोग निरंजनानन्द जी के पवित्र सान्निध्य में उस शुभ दिन का उत्सव मनायेंगे। महाराज भी युवकों का आग्रह देखकर बड़े प्रसन्न हुए। केदारनाथ तथा उनके संगी उत्साहित होकर ठाकुर के पूजा-उत्सव की तैयारियों में लग गये। निर्दिष्ट तिथि को उस पूर्वोक्त ग्रन्थागार-कक्ष में ही एक अपूर्व आनन्दमय परिवेश के बीच श्रीरामकृष्ण की तिथिपूजा सम्पन्न हुई। निरंजन महाराज ने स्वयं ही ठाकुर की विशेष पूजा तथा होम आदि किया। वस्तुतः वाराणसी धाम में मनाया जानेवाला यही पहला श्रीरामकृष्ण-उत्सव था, जो श्रीरामकृष्ण के एक अन्तरंग शिष्य के पौरोहित्य में केदारनाथ के घर में सम्पन्न हुआ। पूजा समाप्त हो जाने के बाद निरंजनानन्द जी ने अपनी स्वभाव-सिद्ध ओजस्वी भाषा में श्रीरामकृष्ण पर चर्चा की थी, जिससे युवा भक्तों तथा समस्त आगन्तुकों ने उस दिन खूब उद्दीपना का अनुभव किया था। उत्सव के उपरान्त भक्तों के बीच कुछ प्रसाद आदि का भी वितरण हुआ था।

वाराणसी में कुछ दिन और तपस्या आदि में बिताने के बाद निरंजन महाराज हरिद्वार चले गये। केदारनाथ के मन में तब तक वैराग्य की आग सुलग चुकी थी। उनके ग्रन्थालय में जुटनेवाली उस मित्र-मण्डली में तभी से नियमित रूप से हर संध्या को श्रीरामकृष्ण पर चर्चा होती और स्वामीजी के 'ज्ञानयोग', 'राजयोग' आदि ग्रन्थों का पाठ भी होता। ठाकुर-स्वामीजी की बातों के अतिरिक्त अन्य कोई भी विषय इन युवकों के मन में स्थान नहीं पाता। केदारनाथ भी बड़े अध्यवसाय के साथ ध्यान-चिन्तन तथा स्वामीजी के ग्रन्थों के पाठ आदि में लग गये। ऐसा कहा जा सकता है कि अब श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द उनके हृदय में स्थायी रूप से विराजित हो चुके थे। इसी काल का एक अन्य घटनाक्रम भी बड़ा ही सार्थक सिद्ध हुआ। स्वामीजी के प्रिय शिष्य कल्याणानन्द उन दिनों तीर्थयात्रा करते हुए वाराणसी में आये हुए थे। बेलूड़ मठ से स्वामी शुद्धानन्द ने उन्हें एक परिचय-पत्र दिया था। कल्याणानन्द के पास शुद्धानन्द जी का परिचय-पत्र देखकर केदारनाथ ने उनसे अपने घर में ठहरने का अनुरोध किया। अब तो केदारनाथ का घर सचमुच ही एक आश्रम में परिणत हो गया। इससे उनके संगियों के उत्साह आदि में भी काफी वृद्धि हुई। कल्याणानन्द के सम्पर्क में आकर, उनके मुख से और भी घनिष्ठ रूप से अपने आचार्य स्वामीजी की बातें सुनने का सुयोग पाकर केदारनाथ का वैराग्य अपनी चरम सीमा तक जा पहुँचा। '**आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च**' (अपनी मुक्ति तथा जगत् के कल्याण हेतु) जीवन को उत्सर्ग करना ही मानव-जीवन की सर्वश्रेष्ठ साधना है – कल्याणानन्द के मुख से बारम्बार यह उपदेश सुनकर केदारनाथ अस्थिर हो उठे और संसार-जाल से बाहर निकल आने के लिये छटपटाने लगे। ❖ **(क्रमशः)** ❖

कर्मयोग – एक चिन्तन (१३)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

जब हम समाचार पत्र खोलकर देखते हैं, तो उसमें इतने अत्याचार, बलात्कार, आत्महत्या, आदि की खबरें क्यों होती हैं? इसलिए होती हैं कि दम तो है, पर शम नहीं है। शम क्या है? स्वामी ब्रह्मानंदजी महाराज, जो आध्यात्मिक साधकों के चूड़ामणि थे, जितना उच्च स्तर पर साधक उठ सकता है, उसके भी ऊपर वे उठे थे। उनके शिष्य ने उनको एक बार पूछा, 'महाराज, मैं आपका शिष्य हूँ, आपने जो मंत्र दिया है उसका ध्यान करने का मैं अभ्यास करता हूँ, किन्तु मेरे मन में बहुत इधर-उधर के विचार आते हैं। तब महाराज कहते हैं, – 'Look hear my boy, The mind is very suceptible to suggetion. You tell your mind, this thought will ruin my spiritual life & it will be last impress the idea upon your mind. Try it again and you will find these ideas will disappear form your mind for ever.' अर्थात् तुम्हारे मन में जो कुविचार आ रहे हैं, उन कुविचारों को दूर करने के लिए बार-बार अपने मन को बताओ – हे मन, यह कुविचार तेरे जीवन का सर्वनाश कर देगा। तेरे आध्यात्मिक जीवन का सर्वनाश हो जायेगा। तू मिट जायेगा। नष्ट हो जायेगा। इस विचार को अपने मन में दृढ़ता से प्रवेश कराओ, तो ये कुविचार सदैव के लिये दूर हो जायेंगे। यह अक्षरश: सत्य बात है।

आज से ३०० सौ साल पहले छत्रपति शिवाजी के गुरू समर्थ रामदास जी ने १२५ श्लोकों की 'मनाचे श्लोक' नामक एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी है। उसमें से बीस श्लोक हमने यात्रा में पढ़े। उसमें वे मन को 'सज्जन' शब्द से संबोधित करते हैं – 'मन सज्जना'। वे कहते हैं – अरे मन, तू सज्जन है। मन से लड़ाई कभी मत करो, मन तुम्हारा शत्रु नहीं है। मन है बिगड़े हुए बालक के समान। छोटा बच्चा दुष्ट है, मानता नहीं, जिद करता है, कुछ चीजें फोड़ देता है, तो क्या आप उस बच्चे का हाथ काट देते हैं? क्या उसका पैर तोड़ देते हैं? नहीं, आप ऐसा नहीं करते। आप उस बच्चे को थोड़ी-सी ताड़ना तो देते हैं, पर फिर समझाने का प्रयत्न करते हैं। बच्चा रोता है। कहता है कि वह स्कूल नहीं जायेगा। तब माँ उसे समझाती है कि देख तू स्कूल जायेगा, तो तुझे मैं हलवा बना के खिलाऊँगी, किन्तु स्कूल नहीं गया, तो हलवा खाने को नहीं मिलेगा। तो बच्चा रोना बंद करके स्कूल जाता है। दिनभर सोचता है कि अभी स्कूल जाऊँगा, तो माँ गोद में बिठाकर मुझे हलुवा खिलायेगी। बच्चे के स्कूल से आने पर माँ वैसे करती भी है। तब बच्चा समझ जाता है और स्कूल जाने लगता है। मन को ऐसे ही समझाकर वश में करने का प्रयत्न करना पड़ेगा। कब तक? जब तक बच्चा बड़ा होकर समझदार न हो जाये। अब तक हमारा मन बालक है, तो प्रेम से उसे समझाना चाहिए। मन सज्जन है, हमारा परम मित्र। उसे परम शत्रु हमने ही बनाकर रखा है।

इसलिये मन को हमें प्रेम से समझाना चाहिये। शम के पहले हमे दम का अभ्यास करना चाहिये। मान लीजिये आपने समझ लिया कि सिगरेट पीना, तम्बाकू खाना, गुटखा खाना बुरी बात है। आपने इनका त्याग करने का निर्णय लिया और आपने प्रतिज्ञा की कि आज से आप सिगरेट नहीं पियेंगे। किन्तु सौ व्यक्तियों में एकाध ही व्यक्ति ऐसा होगा कि वे उस दिन से सिगरेट पीना बंद कर दें। इसके लिये आपको पहले दम का अभ्यास करना चाहिए। विशेषकर आध्यात्मिक साधकों को इस ओर विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। 'आज से' इस शब्द से आप 'से' हटा दीजिए और ये निश्चय कीजिए की मैं 'आज' सिगरेट नहीं पीऊँगा। आप में से ९९% लोग सफल हो जायेंगे। दुर्बल व्यक्ति आधे दिन तक ऐसा कर सकेगा। शुभ संकल्प से धीरे-धीरे ऐसा अभ्यास करने से एक दिन मनुष्य सर्वेंद्रियजयी हो जाता है। भगवान बुद्ध या महावीर हो जाता है। किन्तु बुद्ध या महावीर एक दिन में या एक जन्म में नहीं होते। मनसे नियन्त्रण करने के लिए मनुष्य को संकल्प करना पड़ता है। महापुरुष लोग कहते हैं 'संकल्पवान आत्मवान भवति' – जो व्यक्ति संकल्प करता है, वह – आत्मज्ञानी हो जाता है।

जून १९०० या १९०१ की बात है। इस समय गर्मी अधिक नहीं रहती, किन्तु पसीना बहुत आता है। ये बंगाल की बात है। एक संत बीमार हैं। एलोपैथी दवाइयों से कुछ काम नहीं हो रहा है, वैद्यराज की दवा शुरू हुई। वैद्यराज ने नाड़ी देखकर परिक्षा की, तो देखकर कहा, मैं आपकी बीमारी की दवाई दे सकता हूँ, किन्तु उसके लिये मेरी एक शर्त है। आपको एक नियम मानना पड़ेगा, कि आप पानी नहीं पीयेंगे, दूध पी सकते हैं। वैद्यराज के जाने के बाद, पास के सेवक कहने लगे, दिनभर पीने के लिए पानी माँगते रहते हो, पानी देते-देते मेरी कमर टूट गयी, घंटे भर में २० बार पानी माँगते हो, और वैद्य से कह दिया कि पानी नहीं पीऊँगा। अब दोनों गुरुभाई थे, कुछ बहस उनमें हो गयी। तो संत ने कहा – तू क्या समझता है, तू दवाई ले आना और जिस समय से दवाई खाना है, तू मुझे बताना। मैं अपने इंद्रियों से कहूँगा कि जब

तक दवाई खाऊँगा, तब तक एक बूँद भी पानी मेरी जिह्वा से नीचे नहीं जायेगा। गुरुभाई को लगा कि देखूँ तो क्या करते हैं? दवाई खाना शुरू किया, और एक्कीस दिन तक उनके मुँह में पानी की बूँद नहीं गयीं। ऐसे दृढ़संकल्पी महापुरुष थे – स्वामी विवेकानन्द। ऐसे दृढ़ संकल्पवान उनके गुरुभाई और अन्यान्य कुछ संन्यासी भी थे। प्रात: स्मरणीय स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज भी ऐसे दृढ़ संकल्पी थे।

इंद्रियों का मन से नियंत्रण करने के पश्चात् ही कर्मयोग किया जा सकता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि वही मनुष्य सबसे अधिक सुखी है, जिसके मन में कम ग्रंथी है। मुण्डक उपनिषद में तो ऋषि ने घोषणा ही की है कि –

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षियन्ते च अस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।

यदि हमें ईश्वर प्राप्ति हो जाये, आत्मसाक्षात्कार हो जाये तो क्या होगा? 'भिद्यते हृदयग्रंथि:' – हृदय की गंथियाँ खुल जायेंगी। छिद्यन्ते सर्वसंशया – सभी संशय नष्ट जायेंगे। क्षीयन्ते च अस्य कर्माणि – सभी कर्म समाप्त हो जाते हैं। तस्मिन् दृष्टे परावरे – उस परमात्मा का साक्षात्कार होने पर सभी कार्य समाप्त हो जाते हैं।

संस्कृत भाषा में मन शब्द नपुंसकलिंग में है। मन न तो स्त्री है ना पुरुष है। स्त्री और पुरुष में मन एक ही है, भेद तन में है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का मन एक है, तन भिन्न है। मन के द्वारा इंद्रियों का नियमन करना चाहिए। हमने आज तक जीवन में केवल दम का अभ्यास किया है, शम का नहीं किया, इसलिए दु:खी हैं। शम का अभ्यास कैसे करें? एक उदाहरण देखें।

एकादशी के दिन उपवास करते हैं। हमारे कुछ संन्यासियों ने भी उपवास किया था। उस दिन किसी कारण भोजन के लिए देरी हो गयी थी। अब उपवास करने से शरीर की प्रक्रिया तो नहीं बंद हुई, भूख तो सबको लगी थी। किन्तु भोजन जल्दी मिलना संभव नहीं था, क्योंकि आश्रम में कुछ कार्यक्रम चल रहे थे। तो जिन साधुओं ने उपवास किया था, उन साधुओं ने अपने मन को समझा दिया। इससे भूख की पीड़ा उनको नहीं हुई और वे स्वाधीन रूप से रहे। लेकिन जो भोजन करने वाले थे, उन लोगों को जोर से भूख लग रही थी। ऐसा क्यों हुआ। आचार्य या महापुरुष लोग हमें बताते हैं कि 'संकल्पवान – आत्मवान भवति' उन साधुओं ने संकल्प किया था कि उपवास करूँगा। जो लोग उपवास करते हैं, वे मानसिक रूप से तैयार रहते हैं, इसलिए उन्हें भूख नहीं लगती। किन्तु वे सभी लोग शायद नहीं जानते हैं कि उन्होंने अपने मन में संस्कारों को संकल्प के द्वारा बिठाया है। ईश्वर प्रदत्त शक्तियों में एक बहुत बड़ी शक्ति मनुष्य के पास है और वह है संकल्प की शक्ति। संकल्प की शक्ति के द्वारा मनुष्य सब कुछ कर सकता है। इस विश्व-ब्रह्माण्ड की सृष्टि भी ईश्वर के संकल्प के द्वारा ही हुई है। चैतन्य, ईश्वर में यह संकल्प उठा कि 'एकोहम् बहुस्याम' – मैं अकेला हूँ, बहुत हो जाऊँ। उस चैतन्य, ईश्वर के संकल्प का ही परिणाम है यह सृष्टि।

मनुष्य यदि विचार पूर्वक मन से दृढ़-संकल्प कर ले कि मैं अपनी इंद्रियों को वश में करूँगा, तो यह शम हो गया। भूख लगी है, किन्तु सोच लिया है कि मैं भोजन नहीं करूँगा और भोजन नहीं किया, तो यह हुआ दमन।

मान लीजिये कोई गृहस्थ हैं। उन्होंने अपनी पत्नी को बताया कि ये सब वस्तुएँ बनाना। किन्तु पत्नी की सहेली आ गयी। दोनों मिलकर तीसरी सहेली के पास कुछ काम से चली गयीं, यह सोचकर कि थोड़ी देर में आ जाऊँगी, तब भोजन बनाऊँगी। लौटकर आती हैं, तो देखती हैं कि भोजन का समय हो गया है। पतिदेव ने पूछा कि भोजन तैयार है या नहीं? अब क्या बतायें? तब पत्नी कहती है कि थोड़ी देर प्रतिक्षा कीजिए। थोड़ी देर बाद पतिदेव खाने के लिए पहुँचे, तो देखा कि पतली खिचड़ी और कढ़ी बनाई गयी है। बस, पतिदेव का पारा चढ़ गया और जो होना था वहीं हुआ, बात बिगड़ गयी।

ऐसा कैसे हुआ? पति-पत्नी दोनों के मन का नियमन नहीं था। जीवन के प्रत्येक कार्य में यदि हमने अपने मन को नहीं समझाया है, अपने मन को वश में नहीं किया है, तो हम भुगतते ही रहेंगे। इससे भगवान इस श्लोक में 'असक्त:' विशेषण लगाते हैं। अब हम देखें कि आसक्ति क्या है?

आसक्ति कहते हैं जुड़ जाने को, चिपक जाने को। जब कभी भी, कहीं भी, किसी से भी हम आसक्त होंगे, तो हमें कष्ट होगा। कैसे? आसक्ति व्यक्तिगत होती है, अनासक्ति वैश्विक होती है – Attachment is individual, non attachment is universal.

❖ (क्रमश:) ❖
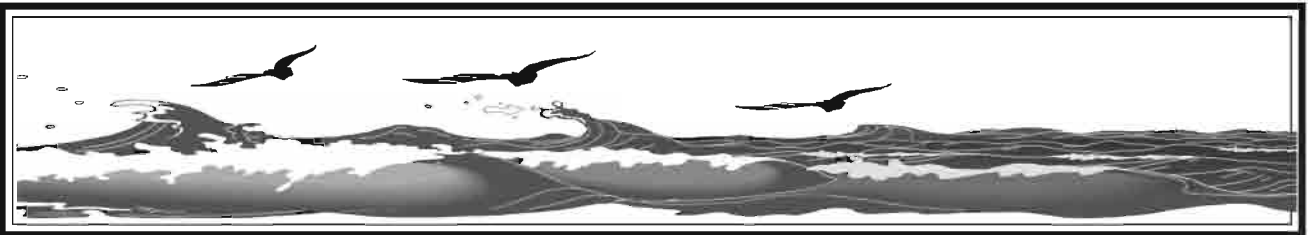
कठोपनिषद्-भाष्य (२५)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

(द्वितीयोध्यायः – द्वितीया वल्ली)

भाष्यम् – पुनः अपि प्रकार-अन्तरेण ब्रह्म-तत्त्व-निर्धारणार्थः अयम् आरम्भो दुर्विज्ञेयत्वात् ब्रह्मणः –

ब्रह्म को जानना अत्यन्त कठिन होने के कारण पुनः भिन्न प्रकार से ब्रह्मतत्त्व का निर्धारण करने के लिये यह वल्ली आरम्भ करते हैं –

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ।।
एतद्वै तत् ।।२/२/१।। (८७)

अन्वयार्थ – **अजस्य** जन्म आदि विक्रिया से रहित **अवक्र-चेतसः** अपरिवर्तनशील, जिसकी चेतना नित्य एकरूप बनी रहती है, उस ब्रह्म का **एकादश-द्वारम्** ग्यारह दरवाजों से युक्त **पुरम्** नगर है; (उस नगर के स्वामी को) **अनुष्ठाय** सर्वत्र सम रूप से सम्यक् विज्ञानपूर्वक ध्यान करके (साधक) **न शोचति** शोकातीत हो जाता है, **विमुक्तः च** और (शरीर के रहते ही अविद्याकृत काम-कर्म के बन्धन से) मुक्त होकर (देहावसान के समय) **विमुच्यते** आवागमन के चक्र से छूट जाता है। **एतत् वै तत्** यही वह आत्मा है ।।

भावार्थ – जन्म आदि विक्रिया से रहित अपरिवर्तनशील, जिसकी चेतना नित्य एकरूप बनी रहती है, उस ब्रह्म का ग्यारह दरवाजों से युक्त नगर है; (उस नगर के स्वामी को) सर्वत्र सम रूप से सम्यक् विज्ञानपूर्वक ध्यान करके (साधक) शोकातीत हो जाता है, और (शरीर के रहते ही अविद्याकृत काम-कर्म के बन्धन से) मुक्त होकर (देहावसान के समय) आवागमन के चक्र से छूट जाता है। यही वह आत्मा है ।।

भाष्यम् – पुरं पुरम् इव पुरम्। द्वारपाल-अधिष्ठातृ-आदि-अनेक-पुर-उपकरण-सम्पत्ति-दर्शनात् शरीरं पुरम्। पुरं च स-उपकरणं स्व-आत्मन-असंहत-स्वतन्त्र-स्वामि-अर्थं दृष्टम्; तथा इदं पुर-सामान्यात् अनेक-उपकरण-संहतं शरीरं स्व-आत्मन-असंहत-राज-स्थानीय-स्वामि-अर्थं भवितुम् अर्हति ।

नगर के समान होने के कारण इसे पुरम् कहा गया। इस शरीर में द्वारपाल (इन्द्रियों के देवता), अधिष्ठाता (प्राण) आदि नगर सम्बन्धी अनेक सामग्री दिखाई देने के कारण इसे नगर कहा गया। जैसे अवयवों सहित नगर अपने से भिन्न किसी स्वतंत्र स्वामी (राजा) के लिये होता हुआ देखने में आता है, वैसे ही चूँकि अनेक अवयवों से युक्त यह शरीर भी एक नगर से सादृश्य रखने के कारण अपने से भिन्न किसी राजा स्थानीय स्वामी के लिये होना चाहिये।

तत् च इदं शरीर-आख्यं पुरम् एकादश-द्वारम् एकादश द्वाराणि अस्य सप्त शीर्षण्यानि नाभ्या सह अर्वाञ्चि त्रीणि शिरस्य एकं तैः एकादश-द्वारं पुरम्। कस्य? अजस्य जन्म-आदि-विक्रिया-रहितस्य आत्मनो राजस्थानीयस्य पुर-धर्म-विलक्षणस्य। अवक्र-चेतसः अवक्रम् अकुटिलम् आदित्य-प्रकाशवत् नित्यम् एव अवस्थितम् एकरूपं चेतो विज्ञानम् अस्य इति अवक्रचेताः तस्य अवक्रचेतसः राज-स्थानीयस्य ब्रह्मणः ।

यह शरीर नामक नगर ग्यारह द्वारोंवाला है – सात (नेत्र, कर्ण, नासिकाएँ तथा मुख) सिर में हैं, नाभि सहित (लिंग तथा गुदा) नीचे के तीन और सिर (के ऊपरी भाग) में एक (ब्रह्मरन्ध्र); इस प्रकार यह ग्यारह द्वारोंवाला नगर है। किसका? नगर की विशेषताओं से युक्त यह शरीर अजन्मा अर्थात् जन्म आदि परिवर्तनों से रहित राजा-स्थानीय आत्मा का है। जिसकी चेतना या ज्ञान कुटिल नहीं, अपितु सूर्य के प्रकाश के समान सीधी, नित्य एकरूप स्थित रहनेवाली है, वह अवक्रचेता है, वही ब्रह्म (इस नगर का) राजा स्थानीय है।

यस्य इदं पुरं तं परमेश्वरं पुर-स्वामिनम् अनुष्ठाय ध्यात्वा – ध्यानं हि तस्य अनुष्ठानं सम्यक्-विज्ञान-पूर्वकम् – तं सर्वैषणा-विनिर्मुक्तः सन् समं सर्वभूतस्थं ध्यात्वा न शोचति। तद्विज्ञानात् अभय-प्राप्तेः शोक-अवसर-अभावात् कुतो भयेक्षा? इह एव अविद्याकृत-काम-कर्म-बन्धनैः विमुक्तो भवति। विमुक्तः च सन् विमुच्यते पुनः शरीरं न गृह्णाति इत्यर्थः ।।१।। २/२/१।। (८७)

जिस परमेश्वर का यह नगर है, उसका सम्यक् ज्ञानपूर्वक ध्यान करना ही अनुष्ठान है – जो समस्त एषणाओं (कामनाओं) से मुक्त होकर, समस्त प्राणियों में समान रूप से स्थित उस (ब्रह्म) का ध्यान करता है, वह शोक से मुक्त हो जाता है। ज्ञान से अभय की प्राप्ति हो जाने के बाद, शोक के अवसर का अभाव हो जाने से उसके लिये भय कहाँ से आ सकता है?

इस शरीर में ही वह अविद्या द्वारा उत्पन्न कामना तथा कर्म के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। और (जीवित रहते ही) मुक्त हो जाने के कारण वह पुन: शरीर धारण नहीं करता।

* * *

भाष्यम् – स तु न एक-शरीर-पुरवर्ती-एव-आत्मा। किं तर्हि? सर्व-पुरवर्ती। कथम् –

पर वह (आत्मा) केवल एक शरीर-नगर में नहीं रहता। तो फिर? समस्त नगरों में निवास करता है। कैसे? –

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षस-
द्धोता वेदिषदति-थिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा
गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥
॥२/२/२॥ (८८)

अन्वयार्थ – वह आत्मा या ब्रह्म **हंसः** सूर्य के रूप में सर्वत्रगामी, **शुचिषत्** शुचि अर्थात् द्यूलोक में स्थित, **वसुः** सबका आश्रय, **अन्तरिक्ष-सत्** वायु के रूप में अन्तरिक्ष में स्थित, **होता** अग्नि के रूप में **वेदि-सत्** पृथ्वी पर स्थित, **अतिथिः दुरोण-सत्** सोम के रूप में कलश में, या अतिथि के रूप में घर में स्थित, **नृ-सत्** मनुष्य के भीतर स्थित, **वर-सत्** देवताओं में स्थित, **ऋत-सत्** सत्य या यज्ञ में स्थित, **व्योम-सत्** आकाश में स्थित, **अब्जाः** शंख आदि के रूप में जल से उत्पन्न होकर, **गोजाः** धान, जौ आदि के रूप में पृथ्वी से उत्पन्न होकर, **ऋतजाः** यज्ञ के अंग के रूप में प्रकट होकर, **अद्रिजाः** पर्वतों से नदी आदि के रूप में उत्पन्न होकर (वह प्रपंच के रूप में विद्यमान है, तथापि वह **ऋतम्** पारमार्थिक रूप में स्थित है, क्योंकि वह) **बृहत्** सबके कारण-रूप में महान् या सर्वव्यापी है।

भावार्थ – वह आत्मा या ब्रह्म – सूर्य के रूप में सर्वत्रगामी, शुचि अर्थात् द्यूलोक में स्थित, वायु-रूप में सबका स्थिति-साधक, अन्तरिक्ष में स्थित, अग्नि-रूप में पृथ्वी पर स्थित, सोम के रूप में कलश में, या अतिथि के रूप में घर में स्थित, मनुष्य के भीतर स्थित, देवताओं में स्थित, सत्य या यज्ञ में स्थित, आकाश में स्थित, शंख आदि के रूप में जल से उत्पन्न होकर, धान, जौ आदि के रूप में पृथ्वी से उत्पन्न होकर, यज्ञ के अंग के रूप में प्रकट होकर, पर्वतों से नदी आदि के रूप में उत्पन्न होकर (वह प्रपंच के रूप में विद्यमान है, तथापि वह पारमार्थिक रूप में स्थित है, क्योंकि वह) सबके कारण-रूप में महान् या सर्वव्यापी है।

भाष्यम् – हंसो हन्ति गच्छति इति। शुचिषद् शुचौ दिवि आदित्य-आत्मना सीदति इति। वसुः वासयति सर्वान् इति वायु-आत्मना। अन्तरिक्षे सीदति इति अन्तरिक्षसत्। होता अग्निः 'अग्निर्वै होता' (चित्युपनिषद ३/१) इति श्रुतेः। वेद्यां पृथिव्यां सीदति इति वेदिषद्। 'इयं वेदिः परोऽन्तः पृथिव्याः' (ऋ.सं. २/३/२०) इत्यादि मन्त्रवर्णात्। अतिथिः सोमः सन् दुरोणे कलशे सीदति इति दुरोणसत्। ब्राह्मणः अतिथि-रूपेण वा दुरोणेषु गृहेषु सीदति इति।

भाष्य-अनुवाद – वह चलता है, इसलिये हंस है। वह पवित्र आकाश में सूर्य के समान रहता है, अत: शुचिषद् है। वह सर्वव्यापी वायु के समान सबको निवास प्रदान करता है, अत: वसु है। वह अन्तरिक्ष में विचरण करता है। वह होता अर्थात् अग्नि है, जैसा कि श्रुति में है – अग्नि ही होता है (चित्युपनिषद ३/१)। वह वेदि अर्थात् पृथ्वी में निवास करने से वेदिषद् है, जैसा कि वेदमंत्र में है – वेदी पृथ्वी का सर्वोच्च स्थान है (ऋ.सं. २/३/२०)। वह सोमरस के रूप में कलश में निवास करनेवाला अथवा ब्राह्मण अतिथि के रूप में दुरोणों अर्थात् घरों में रहनेवाला होने से दुरोणसत् है।

नृषत् नृषु मनुष्येषु सीदति इति नृषत्। वरसद् वरेषु देवेषु सीदति इति, ऋतसद् ऋतं सत्यं यज्ञो वा तस्मिन् सीदति इति। व्योमसद् व्योम्नि आकाशे सीदति इति व्योमसत्।

वह मनुष्यों में निवास करता है, अत: नृषत् है। वह देवताओं में निवास करता है, अत: वरसद् है। वह सत्य या यज्ञ में निवास करता है, अत: ऋतसद् है। वह आकाश में निवास करता है, अत: व्योमसद् है।

अब्जा अप्सु शङ्ख-शुक्ति-मकर-आदि-रूपेण जायते इति। गोजा गवि पृथिव्यां व्रीहि-यव-आदि-रूपेण जायते इति। ऋतजा यज्ञ-अङ्ग-रूपेण जायते इति। अद्रिजाः पर्वतेभ्यो नदी-आदि-रूपेण जायते इति।

वह जल में शंख, शुक्ति, मकर आदि के रूप में जन्म लेता है, अत: अब्जा है। वह पृथ्वी पर धान, जौ आदि के रूप में पैदा होता है, अत: गोजा है। वह यज्ञ के अंगों के रूप में उत्पन्न होता है, अत: ऋतजा है। वह पर्वतों से नदियों आदि के रूप में प्रकट होता है, अत: अद्रिजा है।

सर्वात्मा अपि सन् ऋतम् अवितथ-स्वभाव एव। बृहत् महान्-सर्व-कारणत्वात्। यदा अपि आदित्य एव मन्त्रेण उच्यते तदा अपि अस्य आत्म-स्वरूपत्वम् आदित्यस्य इति अङ्गीकृतत्वाद् ब्राह्मण-व्याख्याने अपि अविरोधः। सर्वव्यापी-एक एव आत्मा जगतः न आत्मभेद – इति मन्त्रार्थः॥ २/२/२ (८८)॥

वह सबकी आत्मा होकर भी अपरिवर्तनशील स्वभाव वाला है। सबका कारण होने के कारण वह बृहत् अर्थात् महान् है। यद्यपि इस (ब्राह्मण के) मंत्र के द्वारा सूर्य का ही वर्णन किया गया है (असौ वाऽऽदित्यो हंसः), तथापि इस प्रसंग में उससे कोई विरोध नहीं है। इस मंत्र का तात्पर्य यही है कि जगत् की आत्मा एक और सर्वव्यापी है, आत्मा में नानात्व नहीं है। **❖ (क्रमशः) ❖**

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

निरन्तराभ्यासवशात्तदित्थं
पक्वं मनो ब्रह्मणि लीयते यदा ।
तदा समाधिः सविकल्पवर्जितः
स्वतोऽद्वयानन्दरसानुभावकः ।।३६२।।

अन्वय – यदा इत्थं निरन्तर-अभ्यास-वशात् तत् मनः पक्वं ब्रह्मणि लीयते तदा स्वतः सविकल्प-वर्जितः अद्वय-आनन्द-रस-अनुभावकः समाधिः ।

अर्थ – पूर्वोक्त निरन्तर अभ्यास (ब्रह्मचिन्तन) द्वारा मन जब शुद्ध होकर ब्रह्म में लीन हो जाता है; तब स्वतः (सहज भाव से) विकल्परहित, अद्वैत ब्रह्मानन्द की रसानुभूति कराने वाली (निर्विकल्प) समाधि की अवस्था प्राप्त हो जाती है।

समाधिनाऽनेन समस्तवासना-
ग्रन्थेर्विनाशोऽखिलकर्मनाशः ।
अन्तर्बहिः सर्वत एव सर्वदा
स्वरूपविस्फूर्तिरयत्नतः स्यात् ।।३६३।।

अन्वय – अनेन समाधिना समस्त-वासना-ग्रन्थेः विनाशः अखिल-कर्मनाशः, अन्तः बहिः सर्वतः एव सर्वदा स्वरूप-विस्फूर्तिः अयत्नतः स्यात् ।

अर्थ – इस निर्विकल्प समाधि के फलस्वरूप समस्त वासना-ग्रन्थियों का विनाश हो जाता है, समस्त कर्मफलों का सर्व प्रकार से क्षय हो जाता है, भीतर और बाहर से सर्वदा बिना किसी प्रयत्न के ही (सहज भाव से) अपने आत्म-स्वरूप का स्फुरण होता रहता है।

श्रुतेः शतगुणं विद्यान्मननं मननादपि ।
निदिध्यासं लक्षगुणमनन्तं निर्विकल्पकम् ।।३६४।।

अन्वय – श्रुतेः मननं शतगुणं, मननात् अपि निदिध्यासं लक्षगुणम्, निर्विकल्पकम् अनन्तम् विद्यात् ।

अर्थ – ब्रह्मविद्या के 'श्रवण' की अपेक्षा 'मनन' को सौगुना उत्कृष्ट मानना चाहिये, मनन की अपेक्षा 'निदिध्यासन' को लाखगुना (और) 'निर्विकल्प' समाधि को अनन्तगुना उत्कृष्ट मानना चाहिये।

निर्विकल्पकसमाधिना स्फुटं
ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम् ।
नान्यथा चलतया मनोगतेः
प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत् ।।३६५।।

अन्वय – निर्विकल्पक-समाधिना ब्रह्मतत्त्वं स्फुटम् ध्रुवं अवगम्यते । अन्यथा न । चलतया मनोगतेः प्रत्ययान्तर-विमिश्रितं भवेत् ।

अर्थ – निर्विकल्प समाधि के द्वारा ब्रह्मतत्त्व का अत्यंत स्पष्ट तथा निश्चित रूप से साक्षात्कार होता है, अन्य किसी प्रकार से नहीं होता। क्योंकि मन अपनी चंचलता के कारण अन्य अनात्म वस्तुओं के साथ मिश्रित रहता है।

अतः समाधत्स्व यतेन्द्रियः सन्
निरन्तरं शान्तमनाः प्रतीचि ।
विध्वंसय ध्वान्तमनाद्यविद्यया
कृतं सदेकत्वविलोकनेन ।।३६६।।

अन्वय – अतः यतेन्द्रियः शान्तमनाः सन् निरन्तरं प्रतीचि समाधत्स्व, सत्-एकत्व-विलोकनेन अनादि-अविद्यया ध्वान्तं विध्वंसय ।

अर्थ – अतः इन्दियों को संयत करके, मन को शान्त करके निरन्तर अन्तरात्मा-रूपी ब्रह्म में समाधिस्थ होओ। और ब्रह्म के साथ आत्मा के एकत्व की अनुभूति के द्वारा, अनादि अविद्या-माया द्वारा उत्पन्न अज्ञान-अन्धकार का विनाश करो।

योगस्य प्रथमद्वारं वाङ्निरोधोऽपरिग्रहः ।
निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तशीलता ।।३६७।।

अन्वय – योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्निरोधः अपरिग्रहः च निराशा निरीहा च नित्यं एकान्तशीलता ।

अर्थ – वाणी पर संयम, विषयों का असंग्रह, आशा न करना, क्रियाओं का त्याग और नित्य एकान्तशीलता – ये योग के प्रथम द्वार हैं।

एकान्तस्थितिरिन्द्रियोपरमणे हेतुर्दमश्चेतसः
संरोधे करणं शमेन विलयं यायादहंवासना ।
तेनानन्दरसानुभूतिरचला ब्राह्मी सदा योगिनः
तस्माच्चित्तनिरोध एव सततं कार्यः प्रयत्नो मुनेः।। ३६८

अन्वय – इन्द्रिय-उपरमणे एकान्त-स्थितिः हेतुः, दमः चेतसः संरोधे करणं शमेन अहंवासना विलयं यायात् तेन योगिनः सदा अचला ब्राह्मी आनन्द-रसानुभूतिः । तस्मात् मुनेः सततं प्रयत्नात् चित्तनिरोधः एव कार्यः ।

अर्थ – एकान्तवास इन्द्रियों के संयम में सहायक है, बाह्य इन्द्रियों का संयम (दम) चित्त के संयम का साधन है, आन्तरिक इन्द्रियों के संयम से अहम्-वासना का नाश होता है, इसके फलस्वरूप योगी को निरन्तर ब्रह्मानन्द रस की अनुभूति होती है; अतएव मुनि (मननशील साधक) को चाहिये कि वह सतत चित्तनिरोध के लिये प्रयत्न करता रहे।

वाचं नियच्छात्मनि तं नियच्छ
बुद्धौ धियं यच्छ च बुद्धिसाक्षिणि ।
तं चापि पूर्णात्मनि निर्विकल्पे
विलाप्य शान्तिं परमां भजस्व ।।३६९।।

अन्वय – वाचं आत्मनि नियच्छ, तं बुद्धौ नियच्छ च धियं बुद्धिसाक्षिणि यच्छ च तं अपि निर्विकल्पे पूर्णात्मनि विलाप्य परमां शान्तिं भजस्व ।

अर्थ – वाणी (अर्थात् सभी इन्द्रियों) को मन में अर्पित करो, मन को बुद्धि में, बुद्धि को उसके साक्षी (अन्तरात्मा) में लय करो और उसे (अन्तरात्मा को) भी निर्विकल्प ब्रह्म में विलीन करके परम शान्ति प्राप्त करो। ❖ **(क्रमशः)** ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२३२. आत्मशक्ति से होवे नाथा

सम्राट् श्रेणिक ने जब एक युवक को मुनि वेश में देखा, तो वे उससे बोले, "आश्चर्य है आपने तरुणावस्था में ही दीक्षा ले ली?" मुनि उस समय ध्यानस्थ थे। ध्यान-मुद्रा भंग हुई देख उन्हें दुख हुआ। तथापि उन्होंने उत्तर दिया, "अनाथ होने के कारण मैंने मुनि-व्रत धारण करना उचित समझा।"

"क्या अनाथ होने के कारण ही आपने जीवन के भोगों से वंचित रहना उचित मान लिया?" सम्राट् ने प्रश्न पूछकर आगे कहा, "आज से आप स्वयं को अनाथ न समझें। अब मैं आपका नाथ हो गया हूँ। आप यह वेश त्यागकर अपना शेष जीवन सुखपूर्वक व्यतीत करें।" मुनि ने कहा, "आप जब स्वयं ही अनाथ हैं, तब मेरे नाथ कैसे होंगे।"

राजा ने रोषपूर्वक कहा, "आप मुझे अनाथ कह रहे हैं। जानते हैं, मैं कौन हूँ? मैं राजा श्रेणिक हूँ, जिसका भव्य महल है, हजारों सैनिक, घोड़े-हाथी और अंसख्य सैनिक हैं। बिना जाने-बूझे आपने मुझे अनाथ कैसे कह दिया?"

मुनि ने शान्त स्वर में कहा, "लगता है, अनाथ शब्द का अर्थ आपको मालूम नहीं। इसी कारण उसका अर्थ आपने दरिद्र व अकिंचन लगा लिया। आपने मुझसे अपनी तुलना की और बिना मेरी सम्मति के स्वयं को मेरा नाथ भी कह दिया। याद रखिये जिसका अपने धन-सम्पत्ति पर अधिकार होता है, वह स्वामी होता है; जिसने अपनी संकल्प शक्ति को एकाग्र कर घोर तपस्या और साधना की है, वह तपस्वी है; जीवात्मा का परमात्मा के साथ संयोग ही योग है और योग द्वारा जीवों के अज्ञान का नाश होता है। अज्ञान का नाश होने से जो यह जान लेता है कि जीव परमात्मा से भिन्न नहीं है, वह 'योगी' है। इसी प्रकार जिसका अपनी आत्मा पर वर्चस्व होता है, वह 'नाथ' है। वैभव और अन्य चीजों पर अधिकार जताने वाला 'नाथ' नहीं होता। 'नाथ' व्रती होता है, दूसरों के हित की – योगक्षेम की कामना करता है।"

'नाथ' शब्द का सुन्दर विवेचन सुनते ही श्रेणिका का सारा दम्भ चूर-चूर हो गया। उन्होंने मुनि से क्षमा माँगी।

२३३. कबीर कहे सोई गुरु, जामें भए अनुराग

तब सन्त कबीर एक सामान्य जुलाहा थे। एक दिन वे सड़क से होकर जा रहे थे कि उन्होंने एक घर में एक स्त्री को घर की चक्की चलाते देखा। उसमें से आटा निकल रहा था। यह देख वे रोने लगे। संयोग से निपट निरंजन नामक एक सन्त वहाँ से गुजर रहे थे। उन्होंने कबीरदास जी से रोने का कारण पूछा, तो वे बोले – एक दिन मेरे शरीर का भी इसी तरह आटा हो जायेगा, यही सोचकर मुझे रोना आ गया। सन्त ने कहा – तेरा ऐसा सोचना सही है, लेकिन यदि तुझे कोई सद्‌गुरु मिल जाय, तो तुझे सद्‌गति मिलेगी।

कबीरदास जी ने सन्त रामानन्द का नाम सुना था, अत: वे उसके पास गये और उनसे मंत्रदीक्षा देने का आग्रह किया। सन्त ने स्पष्ट रूप से कहा कि वे यवन को दीक्षा नहीं देते, इसलिये वे किसी दूसरे योग्य व्यक्ति को गुरु बना लें। मगर कबीरदास ने उन्हीं को गुरु बनाना ठान लिया था। वे जानते कि रामानन्द बड़े सबेरे गंगाजी में स्नान करने जाते हैं। अत: वे उनके मार्ग में जाकर लेट गए। रामानन्दजी के पैरों को जब किसी व्यक्ति के शरीर का स्पर्श हुआ, तो उनके मुख से 'राम-राम' शब्द निकल पड़े। उन्होंने जोर से पूछा, "मेरे पैरों को किसका स्पर्श हुआ है?" कोई उत्तर नहीं मिला। सहसा कबीरदास जी चिल्ला उठे, "मैं तो सद्‌गुरु पा लियो।" सन्त ने पूछा, "मैंने कब तुझे अपना शिष्य बनाया। क्या आपने, मुझे 'राम-राम' का गुरुमंत्र नहीं दिया?" यह सुनते ही सन्त को क्रोध आ गया। उन्होंने पैर से खड़ाऊ निकालकर कबीरदास जी के सिर पर दे मारा और पूछा, "क्या गुरुमंत्र देते समय का कोई साक्षी है?" कबीरदास जी चिल्ला उठे, "उस समय तो कोई नहीं था, मगर अभी-अभी आपने जब मेरे सिर को हाथ लगाया, तो उसके ये सब लोग साक्षी है। सुनते ही रामानन्द जी झेंप गये और बोले – मैं तेरी परीक्षा ले रहा था। तू 'राम-राम' जपा कर। यही तेरा गुरुमंत्र है।" ❑❑❑
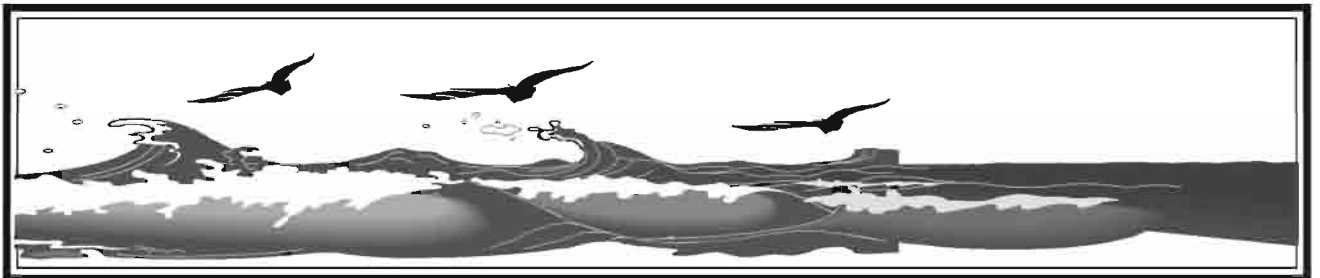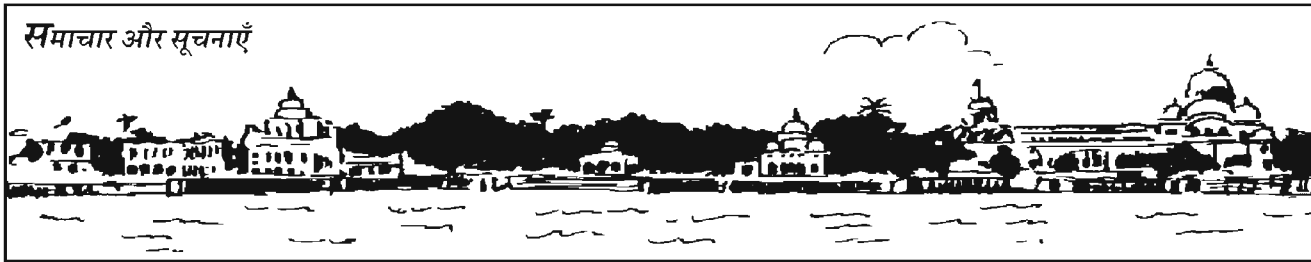
स्वामी विवेकानन्द जी की १५०वीं जन्म-जयन्ती के उपलक्ष्य में विभिन्न केन्द्रों द्वारा कार्यक्रम किये गये -

हैदराबाद में २० जून, २०१२ को स्वामी विवेकानन्द जी के जीवन एवं उपदेशों की विभिन्न भाषाओं – तेलगु, तमिल, कन्नड़ और मलयालम में लिखित पुस्तकों का विमोचन प्रसार-भारती के सीईओ श्री जवाहर सरकार और रामकृष्ण संघ के महासचिव स्वामी सुहितानन्दजी महाराज के द्वारा किया गया। सभा की अध्यक्षता महासचिव महाराज ने की।

गोहाटी आश्रम के द्वारा प्रश्नोत्तरी का आयोजन किया गया, जिसमें १४३ छात्रों ने भाग लिया।

ईटानगर आश्रम ने द्विदिवसीय कार्यक्रम किया, जिसमें २१८ विद्यालयीय बच्चे और २४० भक्तों ने भाग लिया।

विवेकानन्द प्रश्नोत्तरी प्रतियोगिता का आयोजन

विवेकानन्द केन्द्र, कन्याकुमारी की दिल्ली शाखा द्वारा १ अप्रैल, से २१ मई २०१२ तक तीन स्तरों पर विवेकानन्द प्रश्नोत्तरी प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। प्रथम स्तर में सबका पंजीकरण हुआ। दूसरे स्तर में कुल १६३७ छात्रों ने भाग लिया, जिसमें से ५२४ ने व्यक्तित्व विकास कार्यशाला में भाग लिया। तृतीय स्तर की परीक्षा १८ से २१ मई तक महाराजा इंस्टिट्यूट ऑफ टेक्नोलोजी, रोहिणी, नई दिल्ली में सम्पन्न हुई। इसमें चयनित १९१ छात्रों ने भाग लिया।

कोलम्बिया कॉलेज में शिक्षक-प्रशिक्षण शिविर का आयोजन

कोलम्बिया शिक्षण समूह और छत्तीसगढ़ विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी परिषद द्वारा शिक्षक प्रशिक्षण शिविर का आयोजन २८ जून से २ जुलाई तक किया गया, जिसमें रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी, लाइफ मैनेजमेंट श्री विजयशंकर मेहता, छत्तीसगढ़ विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के महानिदेशक प्रोफेसर मुंकुंद हम्बर्डे, कोलकाता विश्वविद्यालय के प्रो. भास्कर बोस आदि ने महत्त्वपूर्ण परामर्श दिये।

स्वामी आत्मानन्द प्रतिष्ठान

स्वामी आत्मानन्द प्रतिष्ठान, रायपुर द्वारा स्वामी विवेकानन्द जी की १५०वीं जन्म जयन्ती के उपलक्ष्य में २७ अगस्त, २०१२ को 'वृन्दावन हॉल', सिविल लाईन, रायपुर में एक सभा का आयोजन किया गया, जिसमें डॉ ओमप्रकाश वर्मा ने "युवा शक्ति के प्रेरक – स्वामी विवेकानन्द" पर और श्री कनक तिवारी जी ने "विवेकानन्द – पंथ निरपेक्षता में धर्म" नामक विषय पर व्याख्यान दिये। स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने सभा की अध्यक्षता की। स्वामी निर्विकारानन्द जी एवं अन्य बहुत से लोग उपस्थित थे।

राज्यस्तरीय प्रश्नोत्तरी एवं समूह नृत्य प्रतियोगिता

खेल एवं युवा कल्याण विभाग, छत्तीसगढ़ शासन द्वारा स्वामी विवेकानन्द जी की १५०वीं जयंती वर्ष के उपलक्ष्य में ३० जुलाई २०१२ को पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय प्रेक्षागृह, रायपुर में प्रात: ११ बजे से मंत्री, अधिकारियों एवं प्रबुद्ध नागरिकों की उपस्थिति में राज्य स्तरीय प्रश्नोत्तरी एवं समूह नृत्य प्रतियोगिता का आयोजन किया गया।

विवेकानन्द केन्द्र, भोपाल द्वारा स्वामी विवेकानन्द जी की १५०वें जन्म वर्ष पर 'विवेक-विचार' वैचारिक जागरण शृंखला के अन्तर्गत भोपाल के 'मानव भवन' में सभा आयोजित की गयी, जिसमें विवेकानन्द केन्द्र की राष्ट्रीय उपाध्यक्ष सुश्री निवेदित भिड़े ने मुख्य वक्ता के रूप में बड़ा ही मार्मिक और उत्साहवर्धक व्याख्यान दिया।

राहत कार्य

पूना आश्रम, मालदा आश्रम, बांगलादेश का दिनाजपुर आश्रम, फिजी स्थित आश्रम, ईटानगर आश्रम और मदुरई आश्रम ने विभिन्न प्रकार के राहत कार्य किये।

चिकित्सकों का सम्मान किया गया

पूना के निकट आलंदी से संत ज्ञानेश्वर महाराज की पालकी ३ जून से २६० किलोमीटर पैदल चलकर ३० जून २०१२ को १८ दिन बाद पंढरपुर पहुँची। इस पैदल यात्रा में लगभग ४ लाख वारकरी महिला और पुरुष भक्तों ने भाग लिया। विश्व हिन्दू परिषद ने अपने आठ एम्बूलेन्सों, १७ चिकित्सकों एवं १० सहयोगियों के साथ पूरे १८ दिन भक्तों की सेवायें कीं। एम्बूलेन्सों के लिये नि:शुल्क ईंधन पेट्रोल पंप के मालिक श्री बालासाहेब गावड़े ने दिया। प्रतिकूल परिस्थिति में भी १८ दिन अपने घरों से दूर रहकर सेवा देने वाले चिकित्सकों का निरामय हॉस्पीटल के निदेशक डॉ दीपक सालुंके द्वारा सम्मानित एवं अभिनन्दन किया गया। यह सेवा पिछले २५ वर्षों से लगातार दी जा रही है। ❑ ❑ ❑